अणुव्रत-परामर्शक मुनि नगराज, डी० लिट्०

यथार्थ के परिपार्श्व में

अनुक्रम

चिंतनपरक

१

स्वभाव और विभाव : एक विवेक

ज्वार क्या ? उतार क्या ?

समुद्र पूरे ज्वार पर था। लहरें एक के बाद एक हिलोरें मार रही थीं।। असीम गर्जन था, असीम उथल-पुथल थी। अमेय जलराशि में एक भी बिन्दु और एक भी जल-कण शांत और सुस्थिर नहीं दीख पड़ता था। लगता था, समुद्र किसी मानसिक द्वन्द्व में बावला हो उठा है। उसके एक-एक अणु से क्षोभ, विद्रोह, आवेश और उद्वेग फूट रहे हैं। देखते-देखते लगा, उसका बढ़ाव पूरा हो चला है। लहरों का नर्तन श्लथ होने लगा है। वे शीघ्रता से सिकुड़-सिकुड़कर पीछे हट रही हैं। वह क्षोभ, वह आवेश ठण्डा होता-सा नजर आ रहा है। समझ में आया, पहले ज्वार था, अब उतार है। वह क्षण भी आने वाला है, जब समुद्र का निस्सीम आयतन शांत और सुस्थिर होगा।

ज्वार के बाद उतार आता है, उतार के बाद ज्वार। प्रश्न उठा, दोनों में सहज क्या है, विकार क्या है ? शास्त्र भी पढ़े थे, विज्ञान भी पढ़ा था। दोनों ओर प्रश्न की पहुंच हुई। शास्त्रीय समाधान था, समुद्र के अन्तस्तल में ऊर्ध्व संचारी वायु का उत्थान ज्वार का निमित्त है और उसका उपशम उतार का। वैज्ञानिक समाधान था, चन्द्र का आकर्षण ही ज्वार का निमित्त है। आकर्षण का विसर्जन उसकी समस्थिति है। मन में आया दोनों ओर का उत्तर एक ही है—ज्वार हेतु-भव है और उतार सहज।

मन समुद्र के ज्वार और उतार को पार कर दर्शन के जगत् में आ

ह जीवन का कोई सहज धर्म नहीं है। यह हम पहले कह ही चुके हैं कि जो तु-भव है, वह स्वभाव नहीं, विभाव है। वस्तुस्थिति तो यह है कि परिग्रह की तरह क्रोध, भय, हिंसा, असत्य, चौर्य भी सामाजिक जीवन की ही उपज हैं। इन्हें स्वभाव समझ लेना, तो हमारा एक नूतन विभाव ही होगा।

सहस्रों वर्षों के प्रयत्नों से भी लड़ाई, घृणा, शोक, अब्रह्मचर्य आदि समाज से मिट नहीं पाये, यह सच है। पर, जो नहीं मिट पाये, वे स्वाभाविक हैं, यह व्याप्ति किस दार्शनिक ने गढ़ी ? यदि यह व्याप्ति सही हो, तो संसार में सर्वाधिक भोले-भाले लोग योगनिष्ठ व्यक्ति होंगे, जो अहर्निश अस्थिर मन की रोक-थाम में ही लगे रहते हैं। पर, यह व्याप्ति सही नहीं है। सहस्रों वर्षों से रोगोपचार चल रहा है। धनिया, मेथी से चला मनुष्य ऐलोपैथी के शिखर पर पहुंच गया है, फिर भी रोग बढ़े हैं। क्या इसका अर्थ यह होगा कि स्वास्थ्य अस्वाभाविक है, रोग स्वाभाविक है !

समाज से रोग नहीं गया, पर, औषधोपचार से व्यक्ति पहले भी निरामय हुआ, आज भी होता है। घृणा, क्रोध, अब्रह्मचर्य आदि समाज से नहीं मिटे, पर, व्यक्तिशः पहले भी मिटे, आज भी मिटते देखे जाते हैं। भूख और निद्रा पर भी विजय पाना योगियों ने अशक्य नहीं माना। इस स्थिति में सोचा भी कैसे जा सकता है, क्रोध, अब्रह्मचर्य आदि स्वाभाविक हैं ? स्वाभाविक का अर्थ है—था, है और रहेगा। भूख, प्यास और नींद को हम स्वाभाविक मान भी लें, तो भी क्रोध, सेक्स आदि से इनकी तुलना अस्वाभाविक ही नहीं, अवैज्ञानिक भी होगी।

पूर्व पश्चिम की ओर और पश्चिम पूर्व की ओर

जीवन में स्वाभाविक क्या है, अस्वाभाविक क्या है ? उपादेय क्या है, हेय क्या है ? इसका उत्तर हमें जीवन की परिभाषा पर ही उभरता मिलेगा। पश्चिम की इस परिभाषा में कि अणु का विकास ही जीवन है, भूख, प्यास और सेक्स सब स्वाभाविक माने जा सकते हैं। उस स्वाभाविक मांग की पूर्ति ही जीवन की परिभाषा बन सकती है। पर, भारतीय दर्शन में अणु और आत्मा की स्वतन्त्र इकाइयां हैं। शरीर और आत्मा की युति भी मंजिल की बाधा है। वहां भूख, प्यास, सेक्स आदि शरीर की मांगों को

रासायनिक और कृत्रिम साधनों का सहारा भी आवश्यक नहीं रह जाता। भारतीय दर्शन अब से स्वतन्त्र पाने का है, न कि उसमें परतन्त्र होने का।

लगता है, पूर्व पश्चिम की ओर बढ़ रहा है, पर साथ-साथ यह भी लगता है कि पूर्व जब पश्चिम की रेखा पर पहुंचेगा, पश्चिम तब तक पूर्व के प्रस्थान पर पहुंच जाएगा। पश्चिम में आज पुनर्जन्म व इन्द्रिय-निरपेक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में नाना चिन्तन, मनन व प्रयोग चल रहे हैं। पिछले दिनों समाचारपत्रों में पढ़ा—वैज्ञानिक इस प्रकार की गोली के आविष्कार में लगे हैं, जिसे खाने से व्यक्ति को पिछले जन्म का ज्ञान हो जाए। ऐसा एक प्रयोग सफल भी हुआ है। एक अमेरिकन महिला को उक्त प्रकार की गोली खाने से अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ। उसने बताया—मैं अपने पिछले जन्म में भारत के अमुक जिले में एक जैन महिला थी। मैं नहीं जानता यह समाचार कितना यथार्थ है, पर इसमें संदेह नहीं कि पश्चिम इस मार्ग से पूर्व की ओर अवश्य बढ़ रहा है। हम मार्क्स, फ्रायड और डार्विन के मतवाद में एकाएक न भूलें। सम्भव है, पश्चिम के लोग ही थोड़ी-सी प्रतीक्षा में महावीर, बुद्ध और कणाद के वातायन में आ जाएं।

२

सम्भोग से समाधि : एक दुराग्रह

प्रेम भावनात्मक : काम एक वृत्ति

दिनांक १५ अक्टूबर, १९६८ के 'गुजरात समाचार' में 'प्रेम और काम' विषय पर आचार्य रजनीश के विचार पढ़े। ऐसा लगा, उनकी धारणाएं भारतीय चिन्तन के प्रतिकूल तो हैं ही, पर पश्चिमी चिन्तन व वैज्ञानिक धारणाओं का भी वे यथार्थ प्रतिनिधित्व नहीं कर रही हैं। प्रेम और काम, दो भिन्न वस्तुएं हैं। न तो प्रेम की यात्रा का प्रथम विन्दु काम है और न प्रेम की यात्रा का जन्म-स्थान गंगोत्तरी सेक्स। प्रेम एक भावनात्मक तत्त्व है। काम एक वृत्ति है, वासना है। तरुणियों पर बलात्कार करने वाले प्रेम का परिचय नहीं देते, अपनी पशुता का परिचय देते हैं और वासना पूरी करते हैं। शीलवती तरुणियों का उनके प्रति प्रेम हो, यह तो प्रश्न ही नहीं होता, बलात्कारियों के मन में भी उन तरुणियों के प्रति वास्तविक प्रेम होता, तो वे बलात्कार की राह ही नहीं लेते। वे उनके प्राण लेकर भी अपनी वासना पूरी नहीं करते। सही अर्थ में पति-पत्नी का सांभोगिक सम्बन्ध भी प्रेम का सूचक नहीं, वृत्ति का सूचक है। वह सम्बन्ध मृग और मृगी में होता है, मयूर और मयूरी में भी होता है। प्राणि-जगत् का कोई युगल संयोग-विरहित नहीं है। यह संज्ञा है, वृत्ति है, वासना है। इसे भावनात्मक प्रेम नहीं कहा जा सकता। पति-पत्नी का भावनात्मक प्रेम एक-दूसरे के प्रति होने वाले समर्पण में व्यक्त होता है। एक-दूसरे के [illegible] समान रूप से उठने वाली सुख-दुःख की घड़ियों में व्यक्त होता है।

४

स्थिति-पोषकता के आंचल में सुषुप्त सामाजिक क्रान्ति

सामाजिक क्रान्ति फलित

भारतीय जन-जीवन रूढ़ियों, ढरों व अन्धविश्वासों का एक बड़ा-सा पुलिंदा है। संस्कृति के नाम पर, धर्म के नाम पर, परम्परा के नाम पर, निस्सीम काल से वे रूढ़ियां पैदा होती व फलती-फूलती आ रही हैं। नया युग आया। नई शिक्षा आयी, बुद्धिवाद ने मुंह खोला। एक सामाजिक क्रान्ति की तसवीर दीखने लगी। रूढ़ि और क्रान्ति के उस द्वन्द्व में क्रान्ति के सूत्रधार समाज-विद्रोही बन गए। जमे-जमाये साम्राज्य को चुनौती देनेवाला वर्ग सर्वप्रथम विद्रोही का ही टाइटिल पाता है, विद्रोही की ही सजा पाता है। सामाजिक क्रान्ति के सूत्रधार भी वही सजा पाने लगे—लाठियों की मार, ढेलों की मार, जूतों की मार। देश-निकाला नहीं, तो समाज-निकाला। फिर भी सामाजिक क्रान्ति फलित हुई। सती-प्रथा समाप्त हुई। ओसर-मोसर बंद हुए। वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह मिटे।

इसी बीच देशभर में एक नारा उठा—आजादी! आजादी! दासों और गुलामों का समाज-सुधार भी कैसा? सामाजिक कार्यकर्ताओं ने राजनैतिक बाना पहना और चल पड़े स्वतन्त्रता का बिगुल बजाते हुए अंग्रेजों के सिंहासन को हिलाने। हिल गया वह सिंहासन। मिल गई आजादी। पर, अब समाज-सुधार की बात किसे याद आए? वहां कुनिता

विश्वास करने लगे हैं। नूतन व्यवस्थाओं और नूतन नैतिक मूल्यों के आधार पर ही छोटे-छोटे राज्यों के नैरन्तरिक युद्ध नामशेष हो गए हैं। सामाजिक स्तर पर देखें, तो दास-प्रथा का अवतरण समान नागरिक अधिकारों में हो गया है। सहस्रों पत्नियों का वैभव पत्नीत्व में अन्तर्धान हो गया है। तात्पर्य, व्यक्ति से समष्टि तक की नैतिक मान्यताओं ने अनेक दिशाओं में अपना विकास किया है और करती भी जा रही हैं।

अर्थ और प्रतिष्ठा की चट्टानें

विकास शुभ का संकेत होता है, प्रतिगमन प्रक्रिया का। नैतिक मूल्य स्वभाव से ही लहरों की तरह एक के पश्चात् एक आगे बढ़ना चाहते हैं। उन लहरों को रोकने का और पीछे ढकेलने का आयास एक उद्वेलन और अस्त-व्यस्तता पैदा करता है। आज उस नैतिक बहाव के सामने अर्थ और प्रतिष्ठा की चट्टानें खड़ी हो गई हैं। यही सामाजिक उद्वेलन का कारण और यही राष्ट्रीय पतन का उद्गम। प्रश्न होता है, जिस देश में कहा गया :

> प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा-गौरवं घोररौरवम्।
> मानं चैव सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भव॥

"प्रतिष्ठा शूकर की विष्ठा है, गौरव घोर कोलाहल मात्र है, सम्मान मद्यपान के बराबर है—इन तीनों को छोड़ और सुखी हो"; उसी देश के मानस पर अर्थ और सम्मान कैसे हावी हो बैठे? आस्तिकता के विचारों पर नास्तिकता का आचार कैसे छा गया? नीति, धर्म व दर्शन में विश्वास रखनेवाले लोग चोरबाजारी, रिश्वत, मिलावट आदि अराष्ट्रीय और असामाजिक कृत्यों पर कैसे तुल गए?

उत्तर स्पष्ट है, भारतवर्ष में दर्शन और चिंतन का अप्रतिम विकास हुआ। वहां तक पहुंचने के उपदेश हुए, पर व्यवस्था किसी ने नहीं दी। कोई भी तदनुकूल दिशा बता देने व प्रेरणा दे देने मात्र से दिल्ली से लंदन नहीं पहुंच जाता। कोई यातायात-व्यवस्था सुलभ होगी, तभी यह दिशा-दर्शन और उपदेश सार्थक हो सकेगा। वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में अर्थ समाज-व्यवहार का माध्यम मात्र न रहकर वह समाज का स्वामी बन

एक परिवार' का सिद्धान्त ही व्यावहारिक समाधान है। जिस दिन संसार 'विश्व एक परिवार' के सिद्धान्त को चरितार्थ कर लेगा, उस दिन वह सचमुच ही अपने दार्शनिक आदर्शों के बहुत निकट होगा। उसके विचार और आचार का व्यवधान सिमटता नजर आएगा। कहना चाहिए, उस दिन मंजिल पर पहुंचने के लिए प्रेरणा ही नहीं, सोपान भी मिलेंगे। हर्बर्ट स्पेन्सर का विश्वास है—"स्वार्थ का विरोध कम हो रहा है, और अन्त में समूल मिट जाएगा। तब व्यक्ति का दूसरों के कल्याण के लिए प्रयत्न करना उतना ही स्वाभाविक होगा, जितना अपने कल्याण के लिए।"

यह तो हुई 'राष्ट्र एक परिवार' और 'विश्व एक परिवार' के दूरवर्ती लक्ष्यों तक पहुंचने की बात, पर आज का मरीज आज ही दवा चाहता है। कारखाना बने और दवा मिले की प्रतीक्षा उसके लिए अक्षम्य होती है। भारतवर्ष एक बड़ा देश है। विभिन्न विश्वासों के लोग इसमें रहते हैं, इस स्थिति में 'देश एक परिवार' की मंजिल बहुत दूर नहीं, तो भी कुछ दूर अवश्य है। इस अन्तराल स्थिति के लिए भी मार्ग खोजने होंगे, भले ही वे अस्थायी आराम (टेम्प्रेरी रिलीफ) जैसे ही क्यों न हों?

भ्रष्टाचार का भेड़िया

यह तो सच है कि संस्कृति और विकृति किसी भी युग में एक साथ चलती रही हैं— राम के युग मे रावण था, तो युधिष्ठिर के युग में दुर्योधन। वर्तमान और अतीत का मौलिक अन्तर यह है कि अतीत में बुराइयां भले ही चलती रही हों, पर लोगों की निष्ठा परम पवित्र आदर्शों में ही केन्द्रित थी। लोग किसी भी बुराई को मान्यता देकर नहीं चलते थे, न लक्ष्य उसे मानते थे। सीता के पुनर्निर्वासन में भले ही भ्रान्ति रही हो, पर वह इस बात का प्रतीक तो है ही कि अयोध्या के वासी किसी लांछित रानी को राजमहलों में देखने को तैयार नहीं थे। सीता की भी तथाकथित त्रुटि उन्होंने क्षम्य नहीं मानी थी। आज लोक-निष्ठा आदर्शों पर बद्धमूल नहीं है, प्रत्युत रिश्वत, झूठा तोल-माप, मिलावट, चोरबाजारी आदि बुराइयों को जन-जीवन क्षेत्र में मान्यता मिल रही है। व्यापारी समझता है, मिलावट में क्या बुराई है, सभी तो करते हैं। राजकर्मचारी समझता है

६

संयम के नूतन आयाम

प्राचीन युग का गो-धन

भारतीय गो-धन की समृद्धता के विषय में जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक हमें अतीत की बहुत ही महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हैं। भगवान् महावीर के प्रथम श्रावक आनन्द के स्वामित्व मे चालीस हजार गायें थीं। दस सहस्र गायों का एक गो वर्ग कहलाता था और ऐसे चार गो वर्ग आनन्द के पास थे। अन्यान्य श्रावकों के पास भी इससे कम अधिक अनेक गो वर्ग होने का उल्लेख मिलता है। बुद्ध के जीवन-चरित्र में सुजाता की खीर का ऐतिहासिक महत्त्व है। सुजाता की खीर खाकर बुद्ध ने समाधि लगाई और उन्हें सम्बोधि-लाभ हुआ। उस खीर के सम्बन्ध में बताया गया है कि एक सहस्र गायों का दूध पांच सौ गायों को पिलाया गया था और पांच सौ गायों का दूध अढ़ाई सौ गायों को। इस प्रकार अन्त में जो एक गाय का दूध था, उसकी वह खीर बनी थी। उस घटना-प्रसंग से उस युग की गो-समृद्धता प्रकट होती है। बुद्ध की प्रमुख उपासिका विशाखा मृगारमाता को दहेज में एक योजन क्षेत्र में रहने वाला गो-धन मिला था। आगमों और त्रिपिटकों में अन्य भी एतद्विषयक अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। इस पहलू पर शोध-कार्य हो, तो आगम और त्रिपिटक उस युग के गो-धन विषयक व्योरा प्रस्तुत करने में बहुत उपयोगी प्रमाणित होंगे।

गो-वध-निषेध का प्रश्न मूलतः हृदय-परिवर्तन के साथ ही सम्बद्ध होता है। कानून भी तब ही बनता है, जबकि उसके लिए बनाने वालों का

७

कर्तव्य, नीति और वर्ग-विग्रह

उच्चावचता का विपर्यय

प्राचीन शास्त्र-युग से लेकर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के वर्तमान नवीन युग तक नीति, कर्तव्य और अनुशासन का पाठ लोगों को पढ़ाया जाता रहा है। एक भूल जो प्राचीन प्रशिक्षण में सदा से रही, प्रकारान्तर से आज भी दुहराई जा रही है। प्राचीन प्रशिक्षण में जहां समर्थ वर्ग ने निम्न वर्ग पर हावी रहकर चलते रहना अपना ध्येय बना लिया था, वहां आज के निम्न वर्ग ने पलड़ा उलट देने का रास्ता लिया है, न कि दोनों पलड़ों में सन्तुलन बिठाने का। यह स्पष्ट है कि उस उपक्रम से साम्य योग की दशा में मनुष्य जरा भी आगे नहीं बढ़ सकेगा। उससे तो उच्चावचता का केवल विपर्यय ही होगा। आवश्यक है कि वर्ग-विग्रह की समाप्ति और साम्य योग के साक्षात् के लिए एक नया चिन्तन-प्रवाह आज के मानव मस्तिष्क में प्रस्फुटित हो।

आचार्य और शिष्य

प्राचीन काल में समर्थ वर्ग ने प्रशिक्षण दिया, पर अपने कर्तव्य की परिभाषाएं उसने कभी पर्याप्त रूप से बांधी ही नहीं।

आचार्यों, गुरुओं, उपाध्यायों और कुलपतियों ने शिष्यों को अपने गुरुजनों के इंगित पर चलने का और उनकी इच्छाओं पर सब कुछ होम देने का तीव्र प्रशिक्षण दिया, पर स्वयं अपने कर्तव्य के प्रति सदा उन्मुक्त

ही रहे। अपने प्रिय शिष्य को प्रथम धनुर्धारी बनाए रखने के लिए एकलव्य का अंगुष्ठ भी गुरु-दक्षिणा के नाम पर कटाकर द्रोणाचार्य आचार्य और गुरु ही रहे। एकलव्य यदि प्रसंगवश पूछ बैठता—आचार्य-प्रवर, शूद्र और अपात्र समझकर आपने मुझे विद्यादान नहीं किया और आज जबकि मैं अपनी गुरु-भक्ति व कर्तव्य-पालन से युग का प्रथम धनुर्धारी बन गया हूं, तब आप अपने ममत्व-संरक्षण के लिए अंगुष्ठ-दान की याचना करते हैं, क्या यह न्याय है ? तो वह अवश्य अपने शिष्य-धर्म से च्युत हो जाता।

पुरुष और स्त्री

पुरुष वर्ग ने स्त्री को भी संयम, सेवा और पतिव्रत धर्म की जीवनोपयोगी बातें सिखलाईं। पति के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देना सभ्य और कुलीन महिला का पहला कार्य बतलाया और बतलाया, वह सर्वस्व न्योछावर कर मृत्यु के बाद भी जलती चिता में कूदकर सती होकर या आजन्म विधवा रहकर उसका पालन करती रहे। उसी पुरुष ने अपने लिए सैकड़ों और सहस्रों स्त्रियों से एक साथ विवाह कर लेना भी अनैतिक नहीं माना। उसने अपने लिए इन बातों का कोई औपचारिक समाधान भी बना लेना आवश्यक नहीं समझा कि यदि स्त्री-समाज हमसे पूछ बैठा कि हमारी मृत्यु के बाद क्या पुरुष भी साथ जलती चिता का आलिंगन करने के लिए या आजन्म विधुर रहने के लिए कृत-संकल्प रहेगा ? फिर भी पुरुष के पुरुषार्थ की बात तो यह रही कि सतीत्व-पालन का गुरुतर भार तो उसने स्त्री के कन्धों पर लादा और श्रेष्ठता का श्रेय उसने अपने आप शिरोधार्य किया। नारी उसकी वाणी में नरक, कूप, सर्पिणी, बाघिनी, डाकिनी ही रही। पुरुष ने अपनी दुर्बलता को सदा स्त्री के सिर पर ही मढ़ा। शास्त्रों, स्मृतियों, आख्यानों और नीति-ग्रन्थों में उसे वासना की वल्लरी, मायाविनी और पुरुषों को भ्रष्ट करने वाली माना, जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि पुरुष ही नारी को भ्रष्ट करने में अगुआ रहा है। रामायण और महाभारत से लेकर यवन-युग तक की एतद्विषयक घटनाओं का यदि अध्ययन किया जाए, तो सहस्रों-सहस्र घटनाएं ऐसी भी मिलेंगी,

८

हिंसा और अहिंसा अपने चरम उत्कर्ष पर

भारत और चीन के युद्ध ने एक बार के लिए अहिंसा की आस्थाओं को आन्दोलित कर दिया है। थोड़ी-सी परीक्षा में अहिंसावादियों की जबान लड़खड़ा गई। कुछ कहने के लिए उन्हें नहीं मिल रहा है। संस्कार अहिंसा के साथ हैं, परिस्थिति हिंसा को प्रेरित कर रही है। कहें, तो भी क्या कहें ?

प्रस्तरों से अणु-अस्त्रों तक

शीत और अशीत युद्ध कहीं चलते हैं। विश्व-मंच पर युद्ध तो हिंसा और अहिंसा का ही है और तय करने की बात भी यही है कि हमें किसका साथ देना है। हिंसा के क्रमिक विकास में अक्रमिक विकास हुआ। तोपों और टैंकों से सीधे अणुबम और उद्जन बम आए। कुल मिलाकर कहना चाहिए, प्रस्तरों से लड़नेवाला मनुष्य आज अणु-अस्त्रों से लड़ने को समुद्यत है।

अनाक्रमण से निःशस्त्रीकरण तक

जब से हिंसा है, तब से ही अहिंसा है। दोनों ही समुदाय-सापेक्ष हैं। हिंसा अनेकताजन्य है। हिंसक केवल मन या वाणी से ही क्यों न हो, पर

६

जन्म-जयन्ती तो कैवल्य-दिवस भी

वैशाख शुक्ला दशमी का दिन आता है और चला जाता है। आचार्यों, मुनियों व श्रावक-श्राविकाओं को यह अनुभव ही विशेषतः नहीं होता कि वह हमारा कोई ऐतिहासिक दिवस है और उसके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य भी है। वैशाख शुक्ला 'पनरस' का दिन आता है। अगले दिन समाचार-पत्रों में पढ़ा जाता है, अमुक जगह वैशाखी पूर्णिमा का समारोह मनाया गया, अमुक जगह वैशाखी पूर्णिमा का समारोह मनाया गया। लोगों ने जाना, यह बौद्धों का ऐतिहासिक दिवस है। इसी दिन बुद्ध का जन्म हुआ था, इसी दिन बुद्ध को सम्बोधि-लाभ हुआ था और इसी दिन बुद्ध का परिनिर्वाण भी।[1] बुद्ध के सम्बोधि-दिवस को जहां सर्व-साधारण भी जानते हैं वहां महावीर के कैवल्य-दिवस को बहुत सारे जैन भी नहीं जानते। इसका कारण है, कैवल्य-दिवस के नाम से जैन धर्म-संघों में कोई आध्यात्मिक समारोह किये जाने की प्रथा ही नहीं है।

तीन उत्कृष्ट जीवन-प्रसंग

भगवान् महावीर के जन्म, कैवल्य और परिनिर्वाण—ये तीन उत्कृष्ट जीवन-प्रसंग होते हैं। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी जन्म-जयन्ती के रूप में मनाई जाने लगी है। कार्तिक अमावस्या भी परिनिर्वाण दिवस के रूप में कुछ-

---

१. बौद्धों की सर्वास्तिवादी परम्परा में बुद्ध का परिनिर्वाण कार्तिक पूर्णिमा को माना जाता है।

कुछ मनाई जाती है। वैशाख शुक्ला दशमी कैवल्य-दिवस के रूप में कहीं मनाई जाती हो, ऐसा नहीं सुना गया। जन्म और परिनिर्वाण से भी अधिक महत्त्व कुछ अपेक्षाओं से कैवल्य-प्राप्ति का है। सभी जैन संघों में इस दिवस को आध्यात्मिक समारोह के रूप में मनाने का क्रम चालू हो, तो यह एक बहुत ही सात्विक परम्परा का श्रीगणेश होगा। सार्वजनिक स्तर पर इसे मनाते रहने में जैन शासन की गौरव-वृद्धि का एक अभिनव सूत्रपात होगा।

निर्विवाद तिथि

जैन एकता की दृष्टि से भी कैवल्य-दिवस का मनाया जाना बहुत उपयोगी होगा। सभी जैन संघों में यह एक निर्विवाद तिथि है। सभी श्वेताम्बर सम्प्रदाय और सभी दिगम्बर सम्प्रदाय वैशाख शुक्ला दशमी को ही महावीर की कैवल्य-तिथि मनाते हैं। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार महावीर की प्रथम देशना श्रावणिक प्रतिपदा को होती है। इस बीच में भगवान् महावीर गणधरों के अभाव में निःशब्द रहते हैं। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर की प्रथम देशना कैवल्य-प्राप्ति के अनन्तर ही देव और देवांगनाओं के बीच हो जाती है। व्रत-लाभ की दृष्टि से वह वाणी फल-शून्य रहती है। दूसरी देशना में इन्द्रभूति आदि दीक्षित होते हैं और चतुर्विध तीर्थ की स्थापना होती है।

देशना-काल की इस विविधता से कैवल्य-दिवस प्रभावित नहीं होता। सभी जैन परम्पराओं में तत्सम्बन्धी मान्यता ज्यों-की-त्यों रहती है। कैवल्य-दिवस की स्थापना के बाद जैन-समाज के पास तीन पर्व ऐसे हो जाते हैं, जिन्हें वह निर्विवादतया एक दिन और एक साथ मना सकता है। वे होंगे जन्म-दिवस, कैवल्य-दिवस और परिनिर्वाण-दिवस।

सम्वत्सरी पर्व की एकता में अनेक बाधाएं दीवार बनाकर खड़ी हैं। इस स्थिति में कैवल्य-दिवस की स्थापना बहुत कुछ पूरक हो सकेगी, ऐसी आशा है। अपेक्षा है, संघों एवं संस्थाओं के दायित्वशील लोग इस ओर ध्यान दें व अपने-अपने परिप्रेक्ष्य में इस सात्विक परम्परा का श्रीगणेश करें।

१०

व्यक्ति और उसका उभरता मूल्य

तीस वर्ष पूर्व के साथी

आमेट मर्यादा महोत्सव (सन् १९६१) में सम्मिलित होकर हमने दिल्ली की ओर सानन्द प्रस्थान कर दिया। जिस दिन हम अजमेर पहुंचे, एक स्थानीय भाई ने मुझे बताया, यहां आपके बाल्यकालीन एक सहपाठी रह रहे हैं। वे यहां के कारावास सुधारगृह के सुपरिटेंडेंट हैं। वे बहुधा कहते हैं, मुनिश्री नगराजजी यहां आए, तो अवश्य उन्हें हमारे इस सुधारगृह में लाना। मुझे और बन्दियों को प्रवचन-श्रवण का लाभ मिलेगा और हम तीस वर्ष बाद एक-दूसरे से मिलेंगे।

मैं जान नहीं पाया, वे सहपाठी कौन होंगे? बहुत सारे बाल्यकालीन सहपाठियों को याद किया, पर यह अनुमान कैसे लग पाता कि यहां मेरे अमुक सहपाठी ही होंगे। दो ही विद्यालय मेरे पढ़ने के थे—एक श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी विद्यालय, कलकत्ता और दूसरा माध्यमिक विद्यालय, सरदारशहर। दोनों स्थानों के अनेक साथी याद आए पर निर्णय नहीं कर पाया। अन्ततः आदर्श बन्दीगृह में पहुंचकर निपटारा पाने की एक सहज प्रेरणा जाग उठी।

निर्धारित दिन और समय पर हम आदर्श कारावास पहुंचे। दरवाजे पर सुपरिटेंडेंट ने हमारा स्वागत किया। मैंने जाना—ये सरदारशहर के प्रेमचन्द चोधरी हैं। तीस वर्ष पूर्व मेरे साथ सरदारशहर में पढ़े हैं। उन्होंने कहा—"आपका सुधार-कार्य तो निरुपम है, परन्तु मैं भी यहां बन्दी-

सुधार कार्य में लगा हूं। आप यहां की व्यवस्था का निरीक्षण करें औ कुछ मार्गदर्शन भी। यहां बन्दियों के लिए यातना नहीं, हृदय-परिवर्तन का मार्ग अपेक्षित माना जाता है।"

क्रमश: हम बन्दियों के सभागृह में पहुंचे। तीन सौ के लगभग बन्दी गांधी टोपी और खद्दर का कुर्ता पहने उपस्थित थे। आगे की पंक्तियों में कुछ बंदी महिलाएं भी थीं। हमें बताया गया, यहां प्रार्थना-सभा सदा ही लगती है और आज की तरह विशेष प्रवचन आयोजित होते हैं। मैं प्रवचन करने लगा और साथ-साथ यह सोचने भी कि ये बन्दी, जिनमें कि बहुत सारे चोर, हत्यारे और डाकू भी होंगे यहां आकर कितने सभ्य और शांत बन गए हैं। बन्दी महिलाओं के बीच एक सभ्य और सुशिक्षित जैसी महिला भी बैठी थी। यह बन्दी महिलाओं के बच्चों को रोते ही अपनी गोद में ले लेती और अपने अनोखे प्यार से उन्हें चुप कर देती। सुपरिटेंडेंट ने बताया—"ये हमारी महिला इन्चार्ज हैं।" मैंने कहा—"इन्हें बन्दी महिलाओं के बीच बैठने में जरा भी हिचक नहीं है।" उन्होंने कहा—"अपने मन में इन भेदों को रखकर हम इनका सुधार कैसे करेंगे?"

यातना नहीं, श्रम-शिक्षा

प्रवचन के पश्चात् हमें वहां की अन्य व्यवस्थाएं बतलाई गईं। हमने देखा, हर एक बन्दी को यातना देने के बदले उसे उपयुक्त श्रम-कार्य सिखाया जाता है। सोनी, दर्जी, बढ़ई आदि सभी प्रकार के लोग अपनी-अपनी कक्षाएं ले रहे हैं। बन्दियों को पारिश्रमिक भी दिया जाता है, जिसका वे स्थानीय कैंटीन में मनचाहा उपयोग कर सकते हैं। उनके लिए पुस्तकालय है, आमोद-प्रमोद व खेल-कूद की व्यवस्थाएं हैं। मकान साफ-सुथरे और आधुनिक ढंग से बने हुए हैं। गांव की गन्दी झोंपड़ियां और नगरों की स्थान-संकीर्णता वहां जरा भी नहीं है। भोजन व पानी की सुविधाजनक व्यवस्थाएं हैं। हम मन-ही-मन में सोचने लगे, कहां तो पुरानी जेलों की वीभत्स यातनाएं और कहां इस नई जेल का सुविधावाद।

मैंने सुपरिंटेंडेंट से पूछा—"क्या ये सुविधाएं बेकार और दूसरे लोगों के लिए आकर्षक नहीं बन जायेंगी? क्या वे जेल में आ जाने के लिए अपराध नहीं करने लगेंगे? जो कभी यहां की सुविधाएं भोग चुके हैं, वे ही अपराधी बनकर पुनः-पुनः यहां नहीं आने लगेंगे?"

अमानवीय व्यवहार अमान्य

सुपरिंटेंडेंट ने बताया—"यह एक प्रयोग है और यह मानकर चलाया जा रहा है कि यातनाएं अपराधों को समाप्त करने में या कम करने में जरा भी सफल नहीं हुई हैं। मुक्त-वातावरण के ये प्रयोग बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यहां सुविधाएं हैं, पर स्वाधीनता का अभाव भी तो है। यहां से निकले लोग अधिकांश अच्छे नागरिक ही बन जाते हैं। न तो वे ही लोग मुड़कर आते हैं और न दूसरे लोग यहां आने को आकृष्ट होते हैं। यह सब न भी हो, तो भी बन्दियों के साथ अमानवीय व्यवहार किसी भी स्थिति में मान्य नहीं रह गया है। भूखों और प्यासों की यातनाएं भी अब गर्हित मानी जाने लगी हैं। व्यक्ति चाहे चोर हो या डाकू, वह मनुष्य तो है ही।"

यह एक घटना थी, जो बन्दियों के जीवन-क्रम को परिवर्तित रूप में सामने लाती थी। सच बात तो यह है, यह युग ही व्यक्ति-विकास का रहा है। यह व्यक्ति-विकास केवल कारावास में ही नहीं बंधी है। यह तो एक युग के सत्य के रूप में सर्वत्र प्रस्फुटित हुआ है।

एकतन्त्र में जनतन्त्र आया। उसकी रीढ़ है—व्यक्ति-विकास। हरएक व्यक्ति को अपने विकास का समान अवसर मिले। व्यवस्था ऐसा होने में कहीं बाधक न बने। हरएक के कार्य का श्रेय उसे मिले। व्यवस्था समान रूप से सभी प्रकार के लोगों को प्रोत्साहित करे। अपने-अपने क्षेत्र में अनेक लोग पराकाष्ठा पर पहुंचें। श्रेय बहुमुखी होकर यथोचित रूप से सभी के पल्ले पड़ता रहे। बड़प्पन और समष्टि वैयक्तिक श्रेयों से और चार चांद लगाए। पूर्व और पश्चिम में एक रूप से यह व्यक्ति-महत्त्व का विचार आज परिपक्व रूप ले रहा है। सर्वमान्य होकर वह समाज का एक नैतिक मूल्य बन गया है।

इस दशक की दो घटनाएं

व्यक्ति और उसके मार्गों का मूल्य, इस विषय को स्पष्ट करने वाल
इस दशक में दो घटनाएं घट चुकी हैं—प्रथम पदयात्री के रूप
तेनसिंह का हिमालय के सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट पर पहुंचना अ
गगारिन का प्रथम अन्तरिक्ष यात्री के रूप में भू-परिक्रमा कर लेन
अज्ञात पर्वतारोही एक ही दिन में विश्व भर के समाचार-पत्रों में मुख-
पृष्ठों पर आ गया। सारे देश ने उसके गौरव को अपना गौरव माना।
राजधानी में देश के शीर्षस्थ नायकों ने उसका राष्ट्रीय सम्मान किया।
विदेशों में भी उसके सम्मान के तांते बंध गए। तेनसिंह विदेशी पद-
यात्रियों के दल का एक सदस्य मात्र था। दल के नेता ने यह भी दावा
नहीं किया कि इस सफलता के श्रेयोभाग हम हैं, क्योंकि सारी व्यवस्थाएं
हमारी थीं। किस देश का वह प्रयत्न था, वह बात भी तेनसिंह के
प्रख्यापन में लीन हो गई।

गगारिन का स्वागत विश्व के अभूतपूर्व स्वागतों में माना जा सकता
है। एक घंटे की अन्तरिक्ष यात्रा ने उसे विश्व के इतिहास में सदा के
लिए अंकित कर दिया। ख्रुश्चेव ने यह नहीं कहा कि मैंने इस यात्रा का
तुम्हें अवसर दिया, जब कि वह एक वस्तु-स्थिति थी। किन्तु उसने कहा—
"गगारिन! तुमने सारे देश को संसार में ऊंचा किया है।" विरोधी
राष्ट्रों ने गगारिन को मुक्त कण्ठ से बधाइयां दीं।

व्यवस्थाओं और मूल्यों का विकास

इन घटनाओं से हम यह अनुमान लगा सकते हैं— आज का युग
और व्यक्ति का मूल्य कहां तक पहुंच चुका है। वे देश और वे समाज कहां
हैं, जिनमें व्यक्ति आज भी दबोचा हुआ-सा जीता है, विकास के मार्ग
कुण्ठित हैं, व्यवस्थाएं और मूल्यांकन शताब्दियों पुराने हैं। सफलताएं
व्यक्तिपरक मानी जाकर कुचली जाती हैं, अवसर सर्वसुलभ न होकर
अल्प-सुलभ हैं। व्यक्ति अपने आपको क्रीत और दास जैसा अनुभव करता
है। आज के युग में ऐसे देश और समाज कलह और क्षोभ से परिपूर्ण

होंगे। व्यवस्था और दुर्व्यवस्था के परिणाम व्यक्ति से भी अधिक उनके स्वयं के लिए चिन्ताजनक बनते रहेंगे। जीर्ण-शीर्ण मूल्य कदम-कदम पर विरोधाभास पैदा करेंगे। परस्परिक व्यवहार के स्वस्थ मूल्य विघटित होते जाएंगे। सर्वत्र रंज का सिन्धु हिलोरें लेगा। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सघन आवरण पड़ जायेंगे। उस स्थिति में व्यवस्थाओं और मूल्यों का विकास ही उस प्रबुद्ध देश और समाज की समस्याओं का एकमात्र त्राण होगा।

११

नूतन परिभाषाएं : नूतन मूल्य

प्रश्न—भ्रष्टाचार के विरोध में देशव्यापी वातावरण बना है। जनता के स्तर से अनेक आन्दोलन और अभियान चल रहे हैं। सरकारी स्तर से गृहमंत्री श्री गुलजारीलाल नन्दा ने प्रशासनिक भ्रष्टाचार मिटाने का बीड़ा उठाया है। भ्रष्टाचार मिटना चाहिए, सभी कहते हैं, पर कैसे मिटेगा यह अब तक स्पष्ट नहीं है। बहुत आवश्यक है, अणुव्रत की भूमिका से भ्रष्टाचार के कारणों और उनके शमन पर व्यवहार्य और योजनाबद्ध प्रकाश डाला जाए।

उत्तर—शिष्टजनों के आचार को शिष्टाचार और भ्रष्टजनों के आचार को भ्रष्टाचार कहा जाता है। सामान्यत: असद् आचार के सभी प्रकार भ्रष्टाचार में आ जाते हैं, पर वर्तमान में रिश्वत लेना ही भ्रष्टाचार का ग्राह्य अर्थ बन गया है।

रिश्वत : पुराना रोग

रिश्वत लेना भारतवर्ष में कोई नई बीमारी नहीं है। पौराणिक कथाओं में भी रिश्वत लेने-देने की चर्चा आती है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्राचीन होने से क्षम्य हो गई है। अनेक देशों में इस विषय में बहुत कुछ विकास हुआ है। रिश्वत लेना और देना समूल मिट जाए, यह उन देशों का लक्ष्य है। आज कोई भी चीज प्राचीनता के कारण ही उपेक्षणीय से अपेक्षणीय नहीं बन जाती। जो यथार्थ है, उसे ही समाज अपनाता है। अयथार्थ को

निर्मूल करना, भले ही वह नवीन हो या प्राचीन, उसका ध्येय होता है। देश में भ्रष्टाचार-निवारण के लिए आज जन-मानस जागृत हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन का इस वातावरण के निर्माण में निरुपम योग रहा है।

रिश्वत का एक कारण आर्थिक विवशता है। बहुत सारे लोग इसीलिए रिश्वत लेते हैं कि उनकी तनख्वाह बहुत कम है। पारिवारिक व सामाजिक अपेक्षाएं बहुत बढ़ी-चढ़ी हैं। उन अनिवार्य अपेक्षाओं के झंझावात से उत्पीड़ित होकर मनुष्य रिश्वत लेने का आदि हो जाता है।

प्रश्न उठता है, तनख्वाह पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाए, तो क्या रिश्वत लेना मिट जाए ? आर्थिक विवशता रिश्वत लेने का एक कारण है, पर एकमात्र कारण नहीं। तनख्वाह बढ़ने से कुछ लोग रिश्वत लेना छोड़ देंगे, तो कुछ तृष्णा को उभारते जायेंगे और रिश्वत लेना भी बढ़ाते जायेंगे। आज जिन लोगों की सहस्रों की तनख्वाह है, वे आर्थिक विवशता से थोड़े ही रिश्वत लेते हैं। उनके घट में धनी होने की महत्त्वाकांक्षा है, अतः सुख-सुविधा को बढ़ाते रहने का लालच है। भले ही वह यश की हो, पद की हो और सुख-सुविधा की हो।

रिश्वत का मूल : तृष्णा

यह माना जा सकता है, रिश्वत लेने में मनुष्य की तृष्णा ही मूलभूत और अन्तरंग कारण है। यह मिट जाए, तो रिश्वत लेने-देने की बात ही मिट जाएगी। पर वह तृष्णा इतनी अजर-अमर है कि धर्मशास्त्रों के उपदेश, स्वर्ग के लालच, नरक के भय जरा भी हिला नहीं सके। मनुष्य सब कुछ जानता-समझता हुआ भी उस मृगतृष्णा के पीछे दौड़ा ही चला जा रहा है। उसका कारण है, परिस्थिति को बदले बिना मनःस्थिति नहीं बदल सकती। आज की समाज-व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु अर्थ है। केन्द्रीभूत आकर्षण से टूटकर कितने व्यक्ति समाज में जी सकते हैं। अर्थ पर चाहे जब, चाहे जितना अधिकार, चाहे जो व्यक्ति कर सकता है। अर्थ-संग्रह की इसी घुटन ने लक्ष्मी के असंख्य वर खड़े कर दिए हैं, जो अहमहमिकया उसका वरण कर ही लेना चाहते हैं। जब तक

१२

धर्म : एक सन्तुलित जीवन-व्यवहार

युग बदला है। स्थितियां बदली हैं। मनुष्य के विश्वास बदले हैं। परिणाम-स्वरूप समाज-व्यवस्था भी नई करवटें ले रही है। जीवन के नये मूल्य स्थापित किए जा रहे हैं। भारतवर्ष निकटभूत में स्वतंत्र हुआ है। जीवन की नूतन व्यवस्थाओं की ओर वह अग्रसर हो रहा है। भारतीय जनता के सामने नये जीवन-दर्शन की सृष्टि का ज्वलंत प्रश्न है। ऐसे सामुदायिक और समता-प्रधान समाज-दर्शन भी इस युग के आकर्षण बन रहे हैं, जिनमें साधन की हेयोपदेयता पर कोई विचार नहीं है। साध्य ही जहां केवल आंखों से दिखने वाला पार्थिव जगत् है। आत्मा और चैतन्य दो विरोधी जड़ों के गुणात्मक परिवर्तन के परिणाम हैं।[1]

प्रत्यक्ष के लिए निष्क्रियता व उपेक्षा अनुचित

भारतीय मानस चेतना की शाश्वतता का विश्वास नहीं खो सकता। क्षितिज के उस ओर को भुलाकर न ही वह इस छोटे-से घेरे में चेतन की अथ से इति मान सकता है। क्षणस्थायी वर्तमान के लिए अनन्त भविष्य को भुला देना, वह बराबर घाटे का सौदा समझेगा। साथ-साथ उस दूरवर्ती विश्व की चिन्ता में इस प्रत्यक्ष विश्व के लिए वह नितान्त निष्क्रिय और उपेक्षाशील होकर बैठे, यह भी विचारकता नहीं होगी। अध्यात्म-परायण जनता के लिए ऐसे जीवन-दर्शन की अपेक्षा है, जिसके वर्तमान

1. विशेष विवेचन के लिए देखें—जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान।

और भविष्य में एक के लिए दूसरे का विघटन न हो। प्रस्तुत दोनों पक्षों को आलोकित करने वाला यह जीवन-दर्शन 'देहली दीपक' हो। वह जीवन-दर्शन सामुदायिक हो या विकेन्द्रित, उसका मूल आत्मवाद और अहिंसा पर तो टिका ही होगा।

अहिंसा और धर्म श्रेयोभिगमन के हेतु हैं। हिंसा और अधर्म आत्मा के अधोगमन के हेतु हैं। इन दो पक्षों के बीच में समाज-व्यवस्था का प्रश्न है। समाज की वर्तमान अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए उसके स्वास्थ्य, भोगोपभोग और शान्ति की अभिवृद्धि के लिए कुछ आचरण अहिंसा और धर्म के आध्यात्मिक क्षेत्र से अपनाए जाते हैं और कुछ आचरण हिंसा और अधर्म के अनाध्यात्मिक पक्ष से। उन समाज-सम्मत आचरणों को नीति कहा जाता है।

समाज-व्यवस्था के सूत्र

समाजशास्त्री उसे ही समाजशास्त्र का मेरुदण्ड मानकर चलते हैं। लोगों का पारस्परिक व्यवहार नैतिक हो, उनकी प्रवृत्तियों में संकीर्ण स्वार्थ न हो, उनके विचारों में विश्व-बन्धुत्व हो, वे सदाचारी हों, ये समाज-व्यवस्था को शान्त और प्रसन्न बनाए रखने के वे सूत्र हैं, जो आत्म-साधना के क्षेत्र से आए हैं और उन्हें आध्यात्मिक मान्यताओं के साथ सामाजिक मान्यताएं भी मिली हैं। फसल उजड़ न जाए और लोगों को भूखों न मरना पड़े, इसलिए टिड्डियों को मारा जाता है। जन-जीवन की रक्षा के लिए हिंस्र पशुओं और चोर-डाकू आदि असामाजिक तत्त्वों को दंडित और पीड़ित किया जाता है। समय-समय पर उठने वाले आतंक को दबाने के लिए आरक्षक गोली चलाते हैं। देश की सुरक्षा के लिए बड़ी-से-बड़ी सेना रखी जाती है। आवश्यकतावश वह सहस्रों शत्रुओं को मौत के घाट ले जाती है। ये वे व्यवस्थाएं हैं, जो हिंसा और अधर्म के अनाध्यात्मिक क्षेत्र लघाती हैं; और समाज में मान्यताए प्राप्त कर एक नीति का रूप लेती हैं। हिंसा और अहिंसा के धर्म और अधर्म के इस योग से एक समाज-व्यवस्था बनती है।

समाज-व्यवस्था के हिंसापूर्ण व्यवहारों को चलाने में व्यक्ति निष्काम

[illegible]

[illegible] और प्रेममय वातावरण का नवीन उदय हुआ।

साधारणतया हर एक व्यक्ति प्रतिपक्षी से क्षमा मंगवाना चाहता है और क्षमा मांग लेने वाला पूर्ण पराजित समझा जाता है। विजयी पक्ष क्षमाप्रार्थी को बड़े अहं भाव से क्षमा प्रदान करता है। यह चालू समाज-व्यवहार है। 'खमतखामना' में यह प्रथा सरासर उल्टी है। यहां भी द्वेष की मुक्ति तो होती है, पर द्वेष का स्थान अहंभाव ले लेता है। 'खमतखामना' में क्रोधादि चतुष्टय का त्याग है। एक प्रयोग के रूप में भी पूर्व प्रकार कलह का अन्त नहीं करता, वह दूसरे कलह का बीजारोपण करता है। दूसरा प्रकार समता व मैत्री के धागे में मन-मुक्ताओं को सदा के लिए पिरो देता है।

दूसरी बात, पूर्व प्रकार में क्षमा देने वाला बड़ा व क्षमा-याचना करने वाला छोटा माना जाता है। यहां प्रतिष्ठा क्षमा मांगनेवाले की है। क्षमा देने की कांक्षा रखने वाले के पास सिवाय लज्जित होने के और कुछ नहीं रह जाता, जबकि अप्रत्याशित ही क्षमा-याचना करने वाला उसके सामने आ खड़ा होता है। अस्तु, 'खमतखामना' की प्रथा जीवन के अनेक पहलुओं को आलोकित करने वाली हो जाती है, यदि उत्तरोत्तर इसका प्रयोग आगे बढ़ाया जाता रहे।

१४

एक प्रस्ताव : एक प्रायोजना

जागृति का युग है। श्रमिक जगे, कृषक जगे, हरिजन जगे, तो महाजन क्यों नहीं जगेंगे? जैन धर्म मुख्यतः वैश्य जाति के हाथ में है और वैश्य जन अपनी दूरदर्शिता और कार्य-दक्षता के लिए सुविख्यात रहे हैं। वैश्य जाति विद्या-प्रधान जाति नहीं है, इसलिए वह जैन धर्म का पर्याप्त विस्तार नहीं कर सकी, यह सच है। परन्तु अपनी बुद्धि-प्रधानता और अर्थ-प्रधानता से इसने जैन धर्म को युग-युग के झंझावातों में से किस प्रकार से बचाकर रखा, यह इतिहास भी कभी मिट जाने वाला नहीं है। इसी का परिणाम है, जिन झंझावातों में बौद्ध धर्म उखड़ गया, उन्हीं झंझावातों में जैन धर्म खड़ा रह सका।

साधना, साहित्य और राजनीति में अग्रणी

इतिहास बताता है कि जैन समाज के सपूत जिस दिशा में गए, वहां वे शीर्षस्थ स्थिति तक पहुंचे। विद्या और साधना के क्षेत्र में जैन आचार्यों और जैन मुनियों का स्थान अजोड़ रहा। उनका त्याग, उनका संयम, उनकी निस्पृह वृत्ति देश भर में सर्वोपरि मानी गयी। उन मनीषियों द्वारा रचित अगाध साहित्य आज भी जैन समाज का निरुपम गौरव बन रहा है। राजनीति में जैन लोग गए, तो बड़े-बड़े राजाओं के दाहिने हाथ होकर रहे, देश-दीवान कहलाए। कहना चाहिए, उनकी सूझ-बूझ से ही बड़े-बड़े राज्य चले। जैन लोगों की व्यावसायिक प्रगति का तो कहना ही क्या?

धोती और लोटा लेकर घर से निकलने वाले देश के व्यावसायिक केन्द्रों में सर्वेसर्वा हो गए। नगरसेठ और जगत-सेठ बने।

जैन समाज सदा ही देश-काल को समझकर चलता रहा है। विगत दो दशकों में भी महत्त्वपूर्ण उन्मेष आये हैं। साम्प्रदायिक तनाव घटे हैं, सहवादिता का श्रीगणेश हुआ है। अनेकानेक सार्वजनीन प्रवृत्तियां जैन समाज में प्रसारित हुई हैं। स्वतंत्र भारत में जैन समाज कुछ दीखने-सा लगा है। भगवान् श्री महावीर के कल्याणप्रद संदेशों से संसार अधिक से अधिक लाभान्वित हो, यह प्रेरणा जन-जन के मानस को आन्दोलित करने लगी है। भगवान् महावीर की जन्म-जयन्तियों और निर्वाण-जयन्तियों ने बल पकड़ा है।

अभ्युदय का अभूतपूर्व प्रसंग

जैन धर्म के अभ्युदय का एक अभूतपूर्व प्रसंग सामने आ रहा है। वह है भगवान् महावीर की २५००वीं निर्वाण जयन्ती। वह शुभ समय होता है विक्रम संवत् २०३० की तथा सन् १९७३ की कार्तिक अमावस्या। लगभग दस वर्ष इस बीच पड़े हैं। साधारणतया लग सकता है, इतना पहले यह विषय क्यों उठाया जा रहा है? पर, इस प्रसंग का पूरा-पूरा उपयोग जैसे बौद्धों ने भगवान् बुद्ध की २५००वीं निर्वाण जयन्ती का किया, वैसा यदि जैन समाज करना चाहे, तो यह अवधि अपर्याप्त ही रह जाती है। सन् १९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाई गई २५००वीं बुद्ध निर्वाण-जयन्ती ने सारे संसार को एक बार के लिए फिर से भगवान् बुद्ध के उपदेशों को गुंजा दिया। इस समारोह ने बौद्ध धर्म को नव जीवन दे दिया। यह ठीक है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म की परिस्थितियों में मौलिक अंतर है। उसका भौगोलिक विस्तार लगभग आधे संसार को भर रहा है, जबकि जैन धर्म केवल भारत का ही छोटा-सा धर्म रह गया है। फिर भी यथेष्ट प्रयत्न से बहुत कुछ साधा जा सकता है और कम-से-कम भारतवर्ष में तो। भारतवर्ष में राष्ट्रीय स्तर पर बुद्ध जयन्ती समारोह मनाया गया। करोड़ों रुपये का व्यय उठाकर [illegible] सारे समारोह का उत्तरदायी बना। [illegible], तो भी जैन समाज के लिए यह

सोचने का विषय तो बन ही जाता है कि महावीर निर्वाण जयंती के लिए वह सरकार और जनता का कितना और कैसा सहयोग अर्जित कर सकेगा ?

निष्क्रियता पर वेदना

बिहार प्रान्त में कुछ वर्षों से सरकारी स्तर पर महावीर जयंती मनाई जाती है। राज्यपाल, मुख्यमंत्री व उच्च अधिकारी उसमें सक्रिय रस लेते हैं। महावीर के नाम पर गौरवान्वित होने वाला प्रान्त २५०० वर्ष के महान् प्रसंग पर सम्भवतः और भी बहुत कुछ कर सकता है। केवल अपेक्षा रहती है, जैन समाज के सक्रिय होने की। भारतवर्ष के वर्तमान उप-राष्ट्रपति तथा बिहार के तात्कालिक राज्यपाल डॉ० जाकिर हुसैन ने वार्तालाप-प्रसंग में हमें बताया—"हम प्रति वर्ष भगवान् महावीर के जन्म-स्थान वैशाली में जाकर जयंती मनाते हैं। हम चाहते थे, जैन समाज भी वहां एकत्रित हो, पर प्रयत्न करने पर भी हम सफल न हो सके। इधर कलकत्ता है, उधर बनारस है। जैन समाज के प्रमुख लोग वहां रहते हैं, पर किसी ने इस महत्त्व की बात को नहीं समझा।" उस वर्ष (सन् १९५८) का हमारा चातुर्मास पटना ही था। राज्यपाल के उद्‌गार सुनकर सचमुच ही जैन समाज की निष्क्रियता पर वेदना हुई।

सर्वसम्मत तिथि

भगवान् महावीर की पचीससौवीं निर्वाण-जयन्ती के सम्बन्ध में सर्वाधिक संतोष की बात तो यह है कि इसमें श्वेताम्बर-दिगम्बर सारे ही सम्प्रदाय काल-गणना की दृष्टि से एकमत हैं। भगवान् महावीर का निर्वाण ५२७ ई० पूर्व में हुआ, यह परम्परासम्मत भी है और इतिहास-सम्मत भी। उस गणना से भी यह निर्वाण जयंती सन् १९७३ तथा सं० २०३० कार्तिक अमावस्या को आती है। सांवत्सरिक पर्व के विषय में जैन परम्पराएं एकमत नहीं हैं, तो उस सम्बन्ध में अभी कोई सर्वमान्य कार्यक्रम नहीं सोचा जा सकता। भगवान् महावीर की जन्म जयन्ती और निर्वाण जयंती ही जैनियों के निर्विवाद प्रसंग हैं। बौद्धों ने भगवान् बुद्ध

[illegible] यहां
तो २५००वीं निर्वाण [illegible] मनाई, [illegible] और निर्वाण
[illegible] किया है। भगवान् बुद्ध के [illegible] और निर्वाण [illegible]
[illegible] हैं और [illegible]
[illegible] है। फिर भी केवल इसी प्रश्न
[illegible] परम्परा-विरोध का समाधान नहीं [illegible] है। [illegible] भगवान् बुद्ध के
के लिए सिलोनी परम्परा के साथ अन्य परम्पराओं ने भी भगवान् बुद्ध के
निर्वाण के पच्चीससौ वर्ष मनाए, जबकि कुछ परम्पराओं के अनुसार
भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पच्चीससौ वर्ष अब भी होने बाकी हैं।
यह हर्ष का विषय है कि जैन समाज के सामने ये कठिनाइयां
नहीं हैं।

संयोजक कौन हो ?

प्रश्न रहता है, इस गुरुतर कार्य के संयोजन का। 'योजक स्तत्र दुर्लभः' की उक्ति यथार्थ है। बहुत सारी सम्भव योजनाएं भी क्रियान्वित नहीं होतीं, योजक के अभाव में। विस्तृत जैन समाज है, नाना संस्थाएं हैं, नाना सम्प्रदाय हैं, उन सबको संयोजन कर उनका उपयोग इस गुरुतर उद्देश्य में करे कौन ? वर्तमान परिस्थितियों में सरल, सर्वांगीण और बुद्धिगम्य एक क्रम इस दिशा में यह बैठता है—भारत जैन महामंडल या तत्सम व्यापक उद्देश्यों वाली संस्था सर्वप्रथम इस सात्विक प्रेरणा को अविलम्ब आगे बढ़ाए। आगामी वर्ष में चारों समाजों के प्रतिनिधि साधुओं व श्रावकों का एक उच्चस्तरीय सम्मेलन दिल्ली जैसे केन्द्र में केवल इसी विषय के विचार-विनिमय के लिए हो और वहां मुनिजनों के आध्यात्मिक निर्देशन में प्रतिनिधि श्रावक निम्नोक्त बातों पर निर्णायक रूप से सोचें—

१. समारोह की रूपरेखा क्या हो ?
२. वह देश में किस प्रकार मनाया जाए तथा विदेशों में कहां-कहां और किस प्रकार मनाया जाए ?
३. देश में भी वह दिल्ली में ही प्रमुख रूप से मनाया जाए या कलकत्ता, मद्रास, बम्बई और दिल्ली—इन चारों दिशाओं के प्रतिनिधि नगरों में समान रूप से मनाया जाए ?

१५

संयम और संयम का अतिरेक

भारतवर्ष में खाद्य-संयम का विचार बहुत चिरन्तन है। ऋषि, मुनि, योगी व आयुर्विद समय-समय पर अपना अधीत व अनुभूत ज्ञान समाज को देते रहे हैं। भारतीय समाज इस दिशा में बहुत आगे बढ़ा है। लाखों लोग मांस व मदिरा से सर्वथा विरत हो चुके हैं। शाकाहार में भी अनेक सीमाएं निश्चित हुई हैं, विशेषतः जैन समाज में। लहसुन-प्याज न खाना, बीज बाहुल्यवाली वनस्पति न खाना, 'सचित्र' वनस्पति न खाना, हरी शाक-सब्जी न खाना। घृत, दूध, दही, मिष्ठान्न आदि न खाना। कुल मिलाकर इतने पदार्थों से अधिक न खाना, इतनी बार से अधिक न खाना, रात्रि-भोजन नहीं करना आदि-आदि। अध्यात्म-साधना और योगाभ्यास के शिविर लगते हैं. उनमें परम सात्विक भोजन की शर्त पहली होती है। मिर्च-मसाले-वर्जित, सादगी व अल्पव्यय के नाम पर बादाम, काजू, किसमिस, नारंगी, मौसमी, सेम, अंगूर वर्जित। बस, शाक, रोटी, चावल और सीमित-सा दूध या दही, यह हुआ सात्विकता व निरोगता का स्टैण्डर्ड भोजन। देश के अनेक साधक व योग-चिन्तक इस सात्विकता को और भी बढ़ाने की गुंजाइश देखते हैं। महात्मा गांधी ने दूध को मनुष्य के भोजन से हटा देने की भी हिदायत की। उन्होंने अपक्व अन्न पर जी सकने के प्रयोग भी किए थे। खाद्य-संयम के विकास की इसी शृंखला में आज भी अनेक शिविर-संचालक कुछ-न-कुछ और छोड़ देने की हिदायत समय-समय पर करते ही रहते हैं। लगता है, खाद्य-संयम में यह अतिवाद हो रहा है।

सात्विकता व निरोगता के नाम पर अनेक अव्यावहारिकताएं व अयथार्थताएं पनपायी जा रही हैं। अधिक भोजन में अनेक दोष हैं, यह बात तो हम जानते हैं, पर अल्प व अपोषक भोजन भी हमारे शरीर पर क्या-क्या कुप्रभाव डालता है, यह हम भूले रहते हैं। अपर्याप्त और अपोषक भोजन जीवन-शक्ति को क्षीण करता है। रोग-निवारक शक्ति को समाप्त करता है। शरीर में अत्यावश्यक पदार्थों की कमी व विकृति होने पर एक के बाद एक बीमारी पैदा होने लगती है। परिणामतः असमय में ही अंधापन, बहरापन, लंगड़ापन, अशक्ति, रक्ताल्पता आदि रोग आ घेरते हैं। पिछले दिनों ही दैनिक अखबारों में पढ़ने को मिला कि पोषक भोजन के अभाव में लाखों बच्चे अपंग व काल-कवलित हो जाते हैं। अस्तु, यह तो पोषक भोजन न पा सकने की विशेषता की बात हुई, पर खाद्य-संयम के नाम पर समाज को पोषक तत्त्वों से वंचित रखने व अकाल-मृत्यु की ओर धकेलने का अभियान तो सचमुच ही बौद्धिक दयनीयता का सूचक है।

कहा जा सकता है, खाद्य-संयम की बात तो मोक्ष-प्राप्ति के लिए है। शारीरिक पक्ष को तो इसमें गौण करना ही होगा। यदि ऐसी बात है तो फिर समागत रोगों के निवारणार्थ वैद्यों व डॉक्टरों की शरण क्यों ली जाती है? दवा, इंजेक्शन व ऑपरेशन आदि में हजारों रुपये क्यों बहाए जाते हैं? अध्यात्म के नाम पर शरीर-पक्ष को सर्वथा गौण ही करना है तो फिर रोग से ग्लानि क्यों तथा मृत्यु से भय क्यों? अस्तु, अध्यात्म-साधना का यह व्यवहार्य मार्ग नहीं कि पहले रोग पैदा करने की स्थिति बनाई जाए और फिर उपचार के लिए दौड़-धूप की जाए। खाद्य-संयम अच्छा है, पर उसके साथ-साथ विवेक व सम्बन्धित विषय के परिज्ञान की पूरी-पूरी आवश्यकता रहती है, और वह भी खासकर धर्म-गुरुओं को, योग्य-प्रशिक्षकों को व शिविर-संचालकों को। व्यक्तिगत रूप से कोई कुछ भी साधना करे, वह एक बात है, पर जो लोग सहस्रों लोगों का मार्गदर्शन करते हैं, उपदेश करते हैं, उन्हें तो अपने विषय का सर्वांगीण ज्ञान होना ही चाहिए। ऐसे मामलों में बहुत बार 'अल्प विद्या भयंकरी' वाली बात चरितार्थ होती देखी जाती है। कोई चीनी को जहर बताकर उसके

परित्याग का अभियान चलाते हैं, तो कोई नमक को हानिकारक बताकर उसके परित्याग का बीड़ा उठाते हैं। अस्तु, कहने का तात्पर्य यह नहीं कि खाद्य-संयम का विकास आवश्यक नहीं है या जो कुछ अब तक विकास हुआ है, वह सारा ही अनुचित है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि खाद्य-संयम की शृंखला में अतिवाद, अयथार्थवाद और अव्यावहारिकतावाद जैसे दोष जो आए हैं, वे भी अनुचित हैं तथा जो और लाए जा रहे हैं वे भी अध्यात्म और संयम को प्रभावशाली बनानेवाले प्रतीत नहीं होते। अध्यात्म को समाज-निरपेक्ष और राष्ट्र-निरपेक्ष व स्वास्थ्य-निरपेक्ष बनाकर हम उसके साथ न्याय नहीं करते।

वर्तमान युग विज्ञान का है। इस युग ने अनेक शास्त्रीय, पौराणिक व परम्परागत मान्यताओं को बदल दिया है। स्वास्थ्य-विज्ञान व शरीर-विज्ञान विषयक धारणाएं भी इसका अपवाद नहीं रही हैं। चिरन्तन धारणाओं को ज्यों का त्यों मानते रहना व उन पर चलते रहना खतरे से खाली नहीं है। हानि न भी हो तो भी अज्ञान का पोषण तो उससे होता ही है। योग-विषयक ग्रन्थ बताते हैं—प्राणायाम करते समय श्वास को नाभि तक ले जाना चाहिए। स्थिति यह है कि श्वास-सम्बद्ध वायु को नाभि तक पहुंचाने का कोई रास्ता है ही नहीं, प्राथमिक शालाओं के बच्चे भी जानते होंगे कि वह वायु फेफड़ों तक ही जा सकती है और उसका स्थान नाभि से बहुत ऊंचा ही रह जाता है। रोहे (ट्रेकोमा) आंखों की एक व्यापक बीमारी है। आयुर्वेद के अनुसार उसका सम्बन्ध पेट से है। मिर्च-मसाला खाना उसमें सर्वथा वर्जनीय है। नवीन प्रयोगात्मक ज्ञान ने निर्विवाद रूप से स्पष्ट कर दिया है कि इस बीमारी का सम्बन्ध छूत से व धूप, धूलि और धुएं आदि से ही है। इस धारणा के अनुसार रोहें के बीमारों को सदा-सदा के लिए मिर्च-मसाले छोड़ देना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। मिर्च छोड़ देना बुरा नहीं है, पर अज्ञानवश ही ऐसा करना पड़ता रहे, यह एक हास्यास्पद स्थिति है।

खाद्य-पदार्थों के गुण-दोष के विषय में भी आंख मूंदकर पुरानी लकीर पर चलते रहना बुद्धिमानी नहीं है। खाद्य-पदार्थों से सम्बद्ध समस्त पुरातन मान्यताओं को आज के ज्ञान-विज्ञान की कसौटी पर कस लेना

सात्विकता व निरोगता के नाम पर अनेक अव्यावहारिकताएं व अयथार्थताएं पनपायी जा रही हैं। अधिक भोजन में अनेक दोष हैं, यह बात तो हम जानते हैं, पर अल्प व अपोषक भोजन भी हमारे शरीर पर क्या-क्या कुप्रभाव डालता है, यह हम भूले रहते हैं। अपर्याप्त और अपोषक भोजन जीवन-शक्ति को क्षीण करता है। रोग-निवारक शक्ति को समाप्त करता है। शरीर में अत्यावश्यक पदार्थों की कमी व विकृति होने पर एक के बाद एक बीमारी पैदा होने लगती है। परिणामत: असमय में ही अंधापन, बहरापन, लंगड़ापन, अशक्ति, रक्ताल्पता आदि रोग आ घेरते हैं। पिछले दिनों ही दैनिक अखबारों में पढ़ने को मिला कि पोषक भोजन के अभाव में लाखों बच्चे अपंग व काल-कवलित हो जाते हैं। अस्तु, यह तो पोषक भोजन न पा सकने की विवशता की बात हुई, पर खाद्य-संयम के नाम पर समाज को पोषक तत्त्वों से वंचित रखने व अकाल-मृत्यु की ओर धकेलने का अभियान तो सचमुच ही बौद्धिक दयनीयता का सूचक है।

कहा जा सकता है, खाद्य-संयम की बात तो मोक्ष-प्राप्ति के लिए है। शारीरिक पक्ष को तो इसमें गौण करना ही होगा। यदि ऐसी बात है तो फिर समागत रोगों के निवारणार्थ वैद्यों व डॉक्टरों की शरण क्यों ली जाती है? दवा, इंजेक्शन व ऑपरेशन आदि में हजारों रुपये क्यों बहाए जाते हैं? अध्यात्म के नाम पर शरीर-पक्ष को सर्वथा गौण ही करना है तो फिर रोग से ग्लानि क्यों तथा मृत्यु से भय क्यों? अस्तु, अध्यात्म-साधना का यह व्यवहार्य मार्ग नहीं कि पहले रोग पैदा करने की स्थिति बनाई जाए और फिर उपचार के लिए दौड़-धूप की जाए। खाद्य-संयम अच्छा है, पर उसके साथ-साथ विवेक व सम्बन्धित विषय के परिज्ञान की पूरी-पूरी आवश्यकता रहती है, और वह भी खासकर धर्म-गुरुओं को, योग-प्रशिक्षकों को व शिविर-संचालकों को। व्यक्तिगत रूप से कोई कुछ भी साधना करे, वह एक बात है, पर जो लोग सहस्रों लोगों का मार्गदर्शन करते हैं, उपदेश करते हैं, उन्हें तो अपने विषय का सर्वांगीण ज्ञान होना ही चाहिए। ऐसे मामलों में बहुत बार 'अल्प विद्या भयंकरी' वाली बात चरितार्थ होती देखी जाती है। कोई चीनी को जहर बताकर उसके

परित्याग का अभियान चलाते हैं, तो कोई नमक को हानिकारक बताकर उसके परित्याग का बीड़ा उठाते हैं। अस्तु, कहने का तात्पर्य यह नहीं कि खाद्य-संयम का विकास आवश्यक नहीं है या जो कुछ अब तक विकास हुआ है, वह सारा ही अनुचित है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि खाद्य-संयम की शृंखला में अतिवाद, अयथार्थवाद और अव्यावहारिकतावाद जैसे दोष जो आए हैं, वे भी अनुचित हैं तथा जो और लाए जा रहे हैं वे भी अध्यात्म और संयम को प्रभावशाली बनानेवाले प्रतीत नहीं होते। अध्यात्म को समाज-निरपेक्ष और राष्ट्र-निरपेक्ष व स्वास्थ्य-निरपेक्ष बनाकर हम उसके साथ न्याय नहीं करते।

वर्तमान युग विज्ञान का है। इस युग ने अनेक शास्त्रीय, पौराणिक व परम्परागत मान्यताओं को बदल दिया है। स्वास्थ्य-विज्ञान व शरीर-विज्ञान विषयक धारणाएं भी इसका अपवाद नहीं रही हैं। चिरन्तन धारणाओं को ज्यों का त्यों मानते रहना व उन पर चलते रहना खतरे से खाली नहीं है। हानि न भी हो तो भी अज्ञान का पोषण तो उससे होता ही है। योग-विषयक ग्रन्थ बताते हैं—प्राणायाम करते समय श्वास को नाभि तक ले जाना चाहिए। स्थिति यह है कि श्वास-सम्बद्ध वायु को नाभि तक पहुंचाने का कोई रास्ता है ही नहीं, प्राथमिक शालाओं के बच्चे भी जानते होंगे कि वह वायु फेफड़ों तक ही जा सकती है और उसका स्थान नाभि से बहुत ऊंचा ही रह जाता है। रोहे (ट्रेकोमा) आंखों की एक व्यापक बीमारी है। आयुर्वेद के अनुसार उसका सम्बन्ध पेट से है। मिर्च-मसाला खाना उसमें सर्वथा वर्जनीय है। नवीन प्रयोगात्मक ज्ञान ने निर्विवाद रूप से स्पष्ट कर दिया है कि इस बीमारी का सम्बन्ध छूत से व धूप, धूलि और धुएं आदि से ही है। इस धारणा के अनुसार रोहें के बीमारों को सदा-सदा के लिए मिर्च-मसाले छोड़ देना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। मिर्च छोड़ देना बुरा नहीं है, पर अज्ञानवश ही ऐसा करना पड़ता रहे, यह एक हास्यास्पद स्थिति है।

खाद्य-पदार्थों के गुण-दोष के विषय में भी आंख मूंदकर पुरानी लकीर पर चलते रहना बुद्धिमानी नहीं है। खाद्य-पदार्थों से सम्बद्ध समस्त पुरातन मान्यताओं को आज के ज्ञान-विज्ञान की कसौटी पर कस लेना

तालिका १

	आटा या चावल	दाल	सब्जियां	मक्खन, घी-तेल या वेजीटेबिल घी	शक्कर या गुड़	दूध या दही	सलाद या मौसमी फल	कुल योग
दैनिक मात्रा :								
औंस	१४	४	६	२	२	१०	४	४२
छटांक	७	२	३	१	१	५	२	२१
कैलोरीज	१४००	४००	९०	५१२	२२८	२००	६०	२८९०
प्रोटीन-ग्राम	४७·६	२४·४	३·०	०·०	०·०	९·०	५·४	८६·४
कार्बोहाइड्रेट-ग्राम	२८७·०	६६·०	४·६	०·०	५४·०	१४·०	२०.०	४४५·६
वसा-ग्राम	७·०	२·८	०·०	५६·२	०·०	१०·०	०·०	७६·०

विटामिन-ए	I.u.		१६००	३०००	७००'००	०'०	५१'०	१५०००	५८०
विटामिन-डी	I.u.		०'०	०'०	३४२'०	०'०	५०'०	२०	४१२
विटामिन-बी १	मिली ग्राम	२'१	४'८	०'९	०'०	०'०	१'०	०'६	९'५
विटामिन-बी २	मिली ग्राम	०'८४	०'३२	०'९	०'०	०'०	०'४	०'६	३'६
नियासिन	मिली ग्राम	११'२	२'०	१'९	०'०	०'०	०'०	१'२	१६'३
विटामिन-सी	मिली ग्राम	०'०	४'०	३६'०	०'०	०.०	०'०	३४'०	७४'०
कैलशियम-ग्राम		०'१४	०'१८	०'१२	०'०	०'०	०'४	०'९	१'७५
आइरन-मिलीग्राम		२८'०	१०'४	१'२	०'०	०'०	०'०	०'८	४०'४

खाद्य सामग्री	कैलोरीज	प्रोटीन (ग्राम)	वसा (ग्राम)	कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	खनिज-पदार्थ कैलशियम (मि.ग्रा.)	आइरन (मि.ग्रा.)	विटामिन कैरोटिन एवं विटा. ए. ग्रा)	बी.१ (मि.ग्रा.)	बी.२ (मि.ग्रा.)	नियासिन (मि.ग्रा.)	विटा. सी. (मि.ग्रा.)
उड़द की दाल	६६	६·८	०·४	१७·१	६०·०	२·८	१८	०·०१	०·१२	०·६	—
मूंग की दाल	६५	६·८	०·४	१६·१	४०·०	२·४	४५	०·१३	—	०·६	—
अरहर की दाल	६५	६·३	०·५	१६·२	४०·०	२·५	६२	०·१३	—	०·३	—
३. दूध व दूध से बने पदार्थ											
मक्खन	२११	०·१	२३·४	०	४·०	०	११४० विटा. डी १७ I.U.	०	०	०	०
दही	२६	०·६	१·६	१·४	५०·०	—	—	—	—	०	०
गाय का दूध	१८	०·६	१·०	१·४	४०·०	—	५१	०·०१	०·०४	—	—
भैंस का दूध	३३	१·२	२·५	१·५	६०·०	०	४६	—	—	—	—

४. घी व तेल											
घी	२५३	०	२८·१	०	—	—	३५० विटा. डी १२ I.u.	०	०	०	०
वनस्पति तेल	२५६	०	२८·४	०	०	०	०	०	०	०	०
५. फल											
सेव	१२	०·१	०	३·०	१·०	०·१	११	०·०१	लेशमात्र	०·१	१
सूखी खुर्मानी	५०	१·४	०	११·१	२६ ०	१·२	१४२०	—	०·१२	०·६	०
सूखा अंजीर	५८	१·०	०	१३·५	८१·०	१·२	२६	०	०·०८	०·५	०
हरे अंगूर	१७	०·२	०	४·१	५·०	० १	१४	०·०१	०·०१	०·१	१
अमरूद	१९	०·४	०·१	४·१	३·०	०·३	४२	०·०३	०·०१	०·३	५२
नींबू	१४	०·४	०	३·१	२६·०	०·६	१२	०·०१	०	०	११
आम पका	१४	०·२	०·१	३·३	३·०	१·३	१३६३	—	—	०·१	१२
तरबूज	६	०·२	०	१·३	४·०	०·१	२४	०·०१	०·०१	०·२	३
नारंगी	१०	०·२	०	२·२	१२·०	०·१	८५	०·०२	०·०१	०·१	१६
पपीता	११	०·१	०	२·७	२·०	०·१	९६०	०·०१	०·०५	०·१	१३
अनन्नास	१२	०·१	०	३·०	३·०	०·१	२८	०·०२	०·०२	०·२	६
केला	३०	०·३	०	७·०	३·०	०·१	२५५	०·०२	०·०१	०·२	१

खाद्य सामग्री	कैलोरीज	प्रोटीन (ग्राम)	वसा (ग्राम)	कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	खनिज-पदार्थ कैलशियम (मि.ग्रा.)	आइरन (मि.ग्रा.)	केरोटिन एवं विटा. ए.	विटामिन बी.१ (मि. ग्रा)	बी. २ (मि.ग्रा.)	नियासिन (मि.ग्रा.)	विटा. सी. (मि.ग्रा.)
अनार	१८	०.५	०	४.२	३.०	०.१	०	—	०.०३	—	५
मूली	१०	०.७	०.१	१.५	२०.०	०.०८	—	—	—	—	—
इमली	८२	०.९	०	१९.१	४८.०	३.१	२८	—	०.५	—	—
६. मेवा, सूखे फल											
वादाम	१६४	५.८	१५.२	१.१	७००	१.२	०	०.०६	०.०५	०.४	०
काजू	१६८	६.०	१३.३	६.३	१४.०	१.४	२८	—	०.०५	०.६	०
पिस्ता	१७८	५.६	१५.१	४.६	४०.०	३.९	६८	—	—	०.४	—
अखरोट	१५१	३.५	१४.६	१.३	१७.०	०.७	०	०.०८	०.०५	०.४	०
मूंगफली	१६६	८.०	१३.६	२.२	१७.०	०.७	०	०.२६	०.०८	०.०६	०
किशमिश	६७	०.३	०	१६.५	१७.०	०.५	१४	०.०	०.०१	०.९	०
७. तेलयुक्त बीज											
[illegible]	१५१	६.२	११.२	६.७	१४०.०	५.१	७७	—	—	१.१	—

८. पत्तेवाली सब्जियां

हरा धनिया	१३	०·९	०·२	१·८	४०·०	२·८	३३००	—	०·०२	०·२	३८
हरा पोदीना	१६	१·४	०·२	२·३	६०·०	४·८	७६७	—	—	०·१	—
पालक	६	०·८	०	०·७	२०·०	०·९	२०००	०·०३	०·०६	०·१	१८
९. अन्य सब्जियां											
गवार की फली	१६	१·१	०·१	२·८	३७·०	१·६	९४	—	—	—	१४
ककड़ी	३	०·२	०	०·४	६·०	०·१	०	०·०१	लेशमात्र	०·१	३
भिण्डी	१२	०·६	०·१	२·२	२५·०	०·४	१६	०·०२	—	०·२	४
आंवला	१७	०·१	०	४·२	१४·०	०.३	—	—	—	०·१	१७०
परवल	५	०·१	०·१	०·५	८·०	०·५	—	—	—	—	—
हरे मटर	१७	१·६	०	२·७	४·०	०·५	१४०	०·१२	०·०३	०·२३	८
टमाटर	४	४·३	०	०·७	४·०	०·१	८५०	०·०२	०·०१	०·०१	७
१०. मसाले											
हींग	८४	१·१	०·३	१९·२	१९०	६·३	—	—	—	—	—
इलायची	६५	२·९	०·६	११·९	३७·०	१७	—	—	—	—	—
हरी मिर्च	१२	०·८	०·२	१·७	८·०	०·३	१२८	—	०·५	०·१	३१
लाल मिर्च	७०	४·५	१·८	९·०	४५·०	०·७	१६	—	—	—	१४

खाद्य सामग्री	कैलोरीज	प्रोटीन (ग्राम)	वसा (ग्राम)	कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	खनिज-पदार्थ		विटामिन				
					कैलशियम (मि. ग्रा.)	आइरन (मि. ग्रा.)	केरोटिन एवं विटा. ए.	बी.१ (मि. ग्रा.)	बी. २ (मि.ग्रा.)	नियासिन (मि ग्रा)	विटा. सी. (मि.ग्रा.)
लौंग	८३	१·५	२·५	१३·६	२१०·०	१·४	—	—	—	—	—
धनिया	८८	४·०	४·६	६·१	१८०·०	५·१	४४५	—	—	०·३	नगण्य
जीरा	१०१	५·३	४·३	१०·३	३००·०	८·८	२४७	—	—	०·‥३	?
मेथी दाना	६५	७·४	१·६	१२·५	४५·०	४·०	४५	—	—	०·०३	—
अदरक	१६	०·७	०·३	३·५	६·०	०·७	१६	—	—	०·२	२
राई	१५४	६·२	११·२	६·७	१४०·०	५·१	७७	—	—	१·१	नगण्य
अजवाइन	१०८	४·४	५·१	१०·६	४००·०	४·१	—	—	—	—	—
काली मिर्च	८७	३·३	१·६	१४·०	१३०·०	४·८	—	—	—	०·४	—
हल्दी	६६	१·८	१·४	१६·७	४३·०	५·३	१४	—	—	[illegible]	—

भारतवर्ष में ऐसे लोग भी बड़ी संख्या में मिलते हैं, जो अपने पेट को ही प्रयोगशाला बनाकर संसार को अनूठा ज्ञान दे देना चाहते हैं। खाद्य-पदार्थों की उपयोगिता या अनुपयोगिता के निर्णय का न तो यह तरीका ही है, न इससे व्यक्ति वास्तविकता तक ही पहुंचता है। शरीरविज्ञान बहुत आगे तक पहुंच चुका है और वह भी विशुद्ध वैज्ञानिक प्रणालियों से। इस स्थिति में हम क-ख से चलें और वह भी अपने ही पेट को प्रयोगशाला बनाकर, यह नितान्त हास्यास्पद ही है।

कुछ लोग अपने आमाशय व आंतों पर दबाव पड़ने व उनके खराब हो जाने के भय से परहेजवादी हो जाते हैं। अमुक पदार्थ गरिष्ठ है, अमुक दुष्पाच्य है, इस धुन में वे अनेकानेक आवश्यक पदार्थों से स्वयं को वंचित रखते रहते हैं। एकांतिक दृष्टि के कारण वे ऐसे हल्के-फुल्के पदार्थों पर निर्भर हो जाते हैं जो शरीर को पर्याप्त पोषण नहीं दे पाते। दूसरी बात उनके आमाशय और आंतें भी इतनी अनभ्यस्त हो जाती हैं कि फिर वे कुछ भी परिवर्तन अपने खाद्य में नहीं कर सकते। फलों पर रह चुकने के बाद सामान्य भोजन पर भी आना उनके लिए कठिन हो जाता है। अभ्यास डालकर ही वे अपनी सामान्य स्थिति तक पहुंच पाते हैं। आमाशय व आंतों की शक्ति सहज रूप से ही इतनी कम नहीं होती है कि जितनी वे (वहमी) लोग समझ बैठते हैं।

प्रस्तुत लेख खाद्य-संयम की अनुपयोगिता बताने के लिए नहीं लिखा गया है। लेख का ध्येय ढर्रे रूप से चलाए जाने वाले खाद्य-संयम की शृंखला में विवेक, व्यावहारिकता व उपयोगिता जोड़ देने का है। धर्म, संस्कृति व अध्यात्म के प्रत्येक पहलू को हम यथार्थता के ताने-बाने में बिठा कर ही उसे अधिक उपयोगी व चिरस्थायी बना सकते हैं। वह अध्यात्म व्यापक व चिरस्थायी नहीं बन सकेगा जिसमें समाज, देश, स्वास्थ्य और शिक्षा को सर्वथा गौण ही कर दिया जाएगा।

ग्रन्थ तब से तमिलवेद कहा जाने लगा। तिरुकुरल का अभिप्राय होता है—कुरल छन्दों में लिखा गया पवित्र ग्रन्थ। तिरुवल्लुवर का अभिप्राय है—पवित्र वल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर।

वल्लुवर का गृह-जीवन

वल्लुवर जुलाहे थे। कपड़ा बुनना और उससे आजीविका चलाना उनका परम्परागत कार्य था। जातीयता की दृष्टि से वे दक्षिण की अछूत जाति के माने गए हैं। उनकी पत्नी का नाम वासुकी था। वह भी एक आदर्श और अर्चनीय महिला मानी गई है। पतिव्रता धर्म को निभाने में वह निराली थी। अपने पति के प्रति मन, वचन और कर्म से वह कितनी समर्पित थी और कितनी श्रद्धाशील थी, इस सम्बन्ध में बहुत सारी घटनाएं तमिल समाज में प्रचलित हैं।

कहा जाता है, तिरुवल्लुवर ने एक बार उसकी श्रद्धा का अंकन करने के लिए कहा—आज लोहे की कीलों और लोहे के टुकड़ों का शाक बनाओ। वासुकी ने बिना किसी तर्क और आशंका के चूल्हे पर तपेली चढ़ा दी और वह लोहे के टुकड़ों और कीलों को उबालने लगी।

एक बार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश में भी खोयी हुई वस्तु को खोजने के लिए तिरुवल्लुवर ने वासुकी से चिराग मंगाया। वासुकी ने बिना ननु-नच के चिराग जलाया और वह खोयी हुई वस्तु को खोजने में पति का सहयोग करने लगी।

एक दिन वासुकी घर के कुएं से पानी निकाल रही थी। अकस्मात् पति का आह्वान कानों में पड़ा। उसने अपने आधे खींचे बर्तन को ज्यों-का-त्यों छोड़ा और पति के पास चली गई। कार्य-निवृत्त होकर जब वह वापस आयी तो देखा, पानी का बर्तन ज्यों-का-त्यों कुएं में आधे लटक रहा है।

सन्त पुरुष

तिरुवल्लुवर सन्त पुरुष थे। उनकी क्षमा-साधना अद्‌भुत थी। उनके जीवन की एक ही घटना उनकी शान्त-वृत्ति का पूरा परिचय दे देती है।

एलेल सिगल नामक एक धनाढ्य व्यक्ति वल्लुवर के ही नगर में रहता था। वह अपने समुद्री व्यवसाय से प्रसिद्ध था। उसके एक लड़का था। वह अधिक लाड़-प्यार में दीठ-सा हो गया था। बड़े-बूढ़ों के साथ भी शरारत कर लेना उसका प्रतिदिन का कार्य था। एक दिन वह अपने साथियों की टोली के साथ उस मुहल्ले से गुजरा, जहां वल्लुवर अपना बुनाई का काम किया करते थे। उस समय वल्लुवर शान्त भाव से किसी चिन्तन में बैठे थे और उनके सामने बेचने की दो साड़ियां रखी थीं। शरारती युवक के मित्रों ने वल्लुवर को एक सन्त बताते हुए उनकी प्रशंसा की। शरारती युवक ने कहा—"सन्तपन स्वयं एक ढोंग है। एक आदमी की अपेक्षा दूसरे आदमी में ऐसी कौन-सी विशेषता होती है, जिससे वह सन्त बन जाता है।"

मित्रों ने कहा—"शान्ति। इसी विशेषता से वह सन्त कहलाता है।"

शरारती युवक यह कहते हुए कि मैं देखता हूं इनकी शान्ति, वल्लुवर के सामने ही जा धमका। एक साड़ी उठा ली और बोला—"इसका क्या मूल्य है ?"

वल्लुवर—"दो रुपये।"

युवक ने साड़ी के दो टुकड़े कर दिए और एक टुकडे के लिए पूछा—"इसका क्या मूल्य है ?"

वल्लुवर ने शान्त-भाव से कहा—"एक रुपया।"

युवक चार, आठ, सोलह आदि टुकड़े क्रमशः करता गया और अन्तिम का दाम पूछता ही गया। सारी साड़ी मटियामेट हो गई। वल्लुवर शान्त-भाव से यह सब देखते रहे। अन्त में युवक ने कहा—"मेरे यह साड़ी अब किसी काम की नहीं है। मैं नहीं खरीदता।"

वल्लुवर ने भी शान्तभाव से कहा—"सच है, बेटे ! अब यह साड़ी किसी के किसी भी काम की नहीं रही है।"

शरारती युवक तिलमिला-सा गया। मन में लज्जित हुआ। मित्रों के सामने हुई अपनी असफलता पर कुढ़ने लगा। जेब से दो रुपये निकाले और वल्लुवर के सामने रख दिए। वल्लुवर ने रुपयों को वापस करते हुए कहा—"बेटे ! अपना सौदा पटा ही नहीं तो रुपये किस बात के ?"

युवक के पास कहने को कुछ नहीं रह गया था। अपनी ढीठता पर

उसका हृदय रो पड़ा। वह सन्त के चरणों में गिर गया—यह कहते हुए कि मनुष्य-मनुष्य में इतना अन्तर हो सकता है, जितना मेरे में और वल्लुवर सन्त में, यह मैंने पहली बार जाना है।

कहा जाता है, इस घटना के पश्चात् वह शरारती युवक सदा के लिए भला हो गया। उसका पिता और वह सदा के लिए वल्लुवर के भक्त हो गए और वे वल्लुवर का परामर्श लेकर ही प्रत्येक कार्य करने लगे।

जैन-रचना

कुरल और वल्लुवर के विषय में उक्त सारी धारणाएं तो जनश्रुति के आधार पर चल ही रही हैं, पर अब इस समग्र विषय पर इतिहास भी कुछ करवट लेने लगा है। वल्लुवर सन्त-श्रेणी के व्यक्ति और विलक्षण मेधावी थे, इसमें कोई दो मत नहीं, पर उन्हें वह ज्ञान कहां से मिला, यह सर्वथा अस्पष्ट था। अब बहुत सारे आधारों से प्रमाणित हो रहा है कि वल्लुवर जैन आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे और 'कुरल' उनकी रचना है। वल्लुवर 'कुरल' के रचयिता नहीं, प्रचारक मात्र थे।[1]

यह एक सुविदित जनश्रुति है कि जैन धर्म किसी एक परिस्थिति-विशेष में उत्तर भारत से दक्षिण में गया। कहा जाता है—बारह वर्षों के दुष्काल के समय उत्तर भारत में साधु-चर्या का निर्वाह कठिन होने लगा था। उस समय भगवान् महावीर के सप्तम पट्टक पर श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं के एक महान् संघ के साथ दक्षिण भी आये। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी दीक्षित होकर उनके साथ आये थे। वह संघ-यात्रा कितनी बड़ी थी, इसका अनुमान इससे लग सकता है कि १२००० साधु-श्रावकों का परिवार तो केवल प्रव्रजित सम्राट् चन्द्रगुप्त का था।

मैसूर राज्य में ऐसे अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का कन्नड़ प्रदेश में आना और दीर्घकाल तक जैन धर्म का

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें—ए० चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित 'Thirukkural' की भूमिका।

प्रचार करते रहना प्रमाणित होता है।[1]

भद्रबाहु के दक्षिण जाने वाले शिष्यों में प्रमुखतम विशाखाचार्य थे। वे तमिल प्रदेश में गए। वहां के राजाओं को जैन बनाया। जनता को जैन बनाया। सारे तमिल प्रदेश में जैन धर्म फैल गया और शताब्दियों तक वह वहां राज-धर्म के रूप में माना जाता रहा। तमिल साहित्य का श्रीगणेश भी जैन विद्वानों के द्वारा हुआ। व्याकरण आदि विभिन्न विषयों पर उन्होंने गद्यात्मक व पद्यात्मक ग्रंथ लिखे।

ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द मद्रास के निकट पोन्नूर की पहाड़ियों में रहते थे। वल्लुवर का आचार्य कुन्दकुन्द से सम्पर्क हुआ। वे श्री कुन्दकुन्दाचार्य के महान् व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुए। कुन्दकुन्दाचार्य ने उनको अपना शिष्य बना लिया। अपनी रचना 'कुरल' अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौंपते हुए उन्होंने आदेश दिया—"देश में भ्रमण करो और इस ग्रन्थ के सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार करो।" साथ-साथ उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को चेतावनी भी दी, "देखो! ग्रन्थ के रचयिता का नाम प्रकट मत करना, क्योंकि यह ग्रन्थ मानवता के उत्थान के लिए लिखा गया है, आत्म-प्रशंसा के लिए नहीं।"

प्रमाणों के अधिक विस्तार में हम न भी जाएं तो उस ग्रन्थ का आदि पृष्ठ ही एक ऐसा निर्द्वन्द्व प्रमाण है, जो 'कुरल' को सर्वांशत जैन-रचना प्रमाणित कर देता है। प्रथम प्रकरण ईश्वर-स्तुति का है। देखना है कि रचयिता का यह ईश्वर कैसा और कौन होता है? मुख्यतः ईश्वर की परिभाषा ही जैन धर्म को अन्य धर्मों से पृथक् रखती है। कुरल की ईश्वर-स्तुति में कहा गया है—"धन्य है वह पुरुष, जो आदि-पुरुष के पादारविन्द में रत रहता है, जो कि न किसी से राग करता है और न किसी से द्वेष।"[2] जैन संस्कृति के मर्मज्ञ सहज ही समझ सकते हैं कि इस स्तुति-वाक्य में कविता का हार्द क्या रहा है? यह तो स्पष्ट है ही कि रचयिता अपने ग्रन्थ को सर्व-

---

१. आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, चतुर्थ अध्याय, के० एस० धरणेन्द्रिया द्वारा लिखित 'दक्षिण भारत में जैन धर्म' शीर्षक लेख के आधार प

२. ईश्वर-स्तुति प्रकरण—४

मान्य प्रार्थना में अन्तर्भूत करना चाहता है। सम्भव है वैदिक उपदेशों से जन-
जैनेतर सभी लाभान्वित हों, यह अभिप्रेत रहा है। इन कारणों से मंगलाचार
में सार्वजनिकता बरती गई है। स्तुतिका का अभिप्राय इतने में ही
अभिव्यक्त किया जा सकता है कि जैन देवों की स्तुति हो और वैदिक उन्हें
अपने देवों की स्तुति मानें। परम्परा नष्ट न हो और समन्वय सध जाए।
अन्य जैन आचार्यों ने भी इस पद्धति का व्यवहार किया है। आचार्य हरिभद्र
ने एक स्थान पर कहा है :

पक्षपातो न मे वीरो, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

"महावीर आदि तीर्थंकरों में मेरा अनुराग नहीं है और कपिल आदि अन्य तैर्थिकों पर मेरा द्वेष नहीं है। जिसका वचन यथार्थ हो, उसी का वचन मेरे लिए ग्राह्य है।" भाषा समन्वयमूलक है। यथार्थता में महावीर का वचन ही ग्राह्य है।

आचार्य हेमचन्द्र राजा कुमारपाल के साथ सोमनाथ मन्दिर में गये थे। राजा कुमारपाल के अनुरोध पर वहां स्तुति करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने एक श्लोक कहा था, जो जैन परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है। इस श्लोक में ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी प्रणाम किया गया है, पर शर्त यह रखी गई है कि वे राग-द्वेष-रहित हों। कहा गया है—

भव-बीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

कथनमात्र के लिए प्रणाम सबको किया है, पर प्रणाम ठहरता केवल 'जिन' के लिए है। कुरल के प्रस्तुत श्लोकार्थ में भी आदि ब्रह्मा की स्तुति की गई है। पुराण-परम्परा के अनुसार ब्रह्मा आदिपुरुष हैं, क्योंकि उसी से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण पैदा हुए हैं। अतः यह स्तुति उस आदि-ब्रह्म तक पहुंचनी चाहिए। यहां राग-द्वेष-रहित होने का अनुबन्ध लगाकर रचयिता ने यह स्तुति आदिपुरुष श्री आदिनाथ प्रभु तक पहुंचा दी है। वे आदिपुरुष भी हैं और राग-द्वेष-रहित भी।

एक अन्य श्लोक में रचयिता कहते हैं—"जो पुरुष हृदय-कमल के अधिवासी भगवान् के चरणों की शरण लेता है, मृत्यु उस पर दौड़कर

प्रस्तुत भावना के प्रभु शब्द से पंच परमेष्ठी रूप प्रभु की स्तुति की गई है, ऐसा स्वयं लगता है।

८. "देखो, जो मनुष्य प्रभु के गुणों का उत्साहपूर्वक मान करते हैं, उन्हें अपने कर्मों का दुःखप्रद फल नहीं भोगना पड़ता।"

समग्र स्तुति-दशक में इस प्रकार कहीं भी जैनत्व की सीमा का उल्लंघन नहीं किया गया है, अपितु स्तुति को जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं से सम्मत बनाते हुए भी रचयिता ने जैनत्व का संपोषण किया है।

हम अन्य प्रकरणों की छानबीन में भी जा सकें तो सम्भवतः बहुत सारी उक्तियां मिल जाएंगी जो नितान्त रूप से जैनत्व को अभिव्यक्त करने वाली ही हैं।

अन्य विद्वानों के अंकन में

'तिरुकुरल' कृति की इस सहज अभिव्यक्ति को भारतीय व पाश्चात्य अन्य विद्वानों ने भी आंका है। कनक सभाई पिल्ले, एस० विजयपुरी पिल्ले, डॉ० वी० कल्याण सुन्दर मुदालियर आदि अनेक जैनेतर विद्वान् हैं, जिन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है कि तिरुकुरल एक जैन रचना है।[1] यूरोपीय विद्वान् एलिस और प्राउल ने भी इसी मत की पुष्टि की है।

तमिल विद्वान् कल्लदार ने कुरल की प्रशस्ति में लिखा है—"परम्परागत सभी मतवाद एक-दूसरे से विरोध रखते हैं। एक दर्शन कहता है, सत्य यह है, तो दूसरा दर्शन कहता है, यह ठीक नहीं है, सत्य तो यह है। कुरल का दर्शन एकान्तवादिता के दोष से सर्वथा मुक्त है।"[2]

---

1. Thirukkural, Ed. by Prof. A. Chakravarti, Introduction, p. X.
2. Speaking about these traditional darshanas he (Kalladar) points out that they are conflicting with one another. However one system says the ultimate reality is one, another system will contradict this and

इस प्रसंग में यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण हो सकता है कि 'कयतरम्' (Kayatram) नामक तमिल निघण्टु के देव प्रकरण में जिनेश्वर के पर्यायवाची नामों में बहुत सारे वही नाम दिए हैं, जो कुरल की मंगल-प्रशस्ति में प्रयुक्त किये गए हैं। निघण्टुकार ने जोकि ब्राह्मण विद्वान् हैं, कुरल के रचयिता को जैन समझकर ही अवश्य ऐसा माना है।

कुरल पर अनेक प्राचीन टीकाएं उपलब्ध होती हैं। उनमें से अनेक टीकाएं जैन विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। इससे भी कुरल का जैन-रचना होना पुष्ट होता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण मानी जाने वाली टीका के रचयिता धर्मार हैं। उनके विषय में भी धारणा है कि वे प्रसिद्ध जैन-विद्वान् तो थे, पर धर्म से जैनी नहीं थे।[1]

कुन्दकुन्द ही क्यों ?

कुरल को जैन-रचना मान लेने के पश्चात् भी जिज्ञासा तो रह ही जाती है कि उसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द ही क्यों ? इस विषय में भी कुछ ऐतिहासिक आधार मिलते हैं। मामूलनार तमिल के विख्यात कवि हुए हैं। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। उन्होंने कुरल की प्रशस्ति-गाथा में कहा है—"कुरल के वास्तविक लेखक थीवर हैं, किन्तु अज्ञानी लोग वल्लुवर को इसका लेखक मानते हैं, पर बुद्धिमान लोगों को अज्ञानियों की ये मूर्खतामरी बातें स्वीकार नहीं करनी

---

says no. This mutual incompatability of the six systems is pointed out and the philosopphy of kural is praised to be free from this defect of onesidedness.
—Thirukkural, Ed. by Prof. A. Chakravarti, Introduction.

1. Thirukkural Ed. by Prof. A. Chakravarti, r

चाहिए।"[1]

प्रो० ए० चक्रवर्ती ने तिरुकुरल में भली-भांति प्रमाणित किया है, कि तमिल परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के ही 'थीवर' और 'एलाचार्य' ये दो नाम हैं।[2]

जैन विद्वान् जीवक चिन्तामणि ग्रन्थ के टीकाकार नचिनर किनियर ने अपनी टीका में सर्वत्र तिरुकुरल के लेखक का नाम थीवर बतलाया है।[3]

तमिल साहित्य में सामान्यतः थीवर शब्द का प्रयोग जैन श्रमण के अर्थ में किया जाता है।

कुरल की एक प्राचीन पाण्डुलिपि के मुखपृष्ठ पर लिखा मिला है—"एलाचार्य द्वारा रचित तिरुकुरल।"[4] इन सारे पुराणों को देखते हुए सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि कुरल के वास्तविक रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द ही थे।

भ्रम का कारण

यह एक बड़ा-सा प्रश्नचिह्न बन जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द (थीवर या एलाचार्य) ही इसके रचयिता थे, तो यह इतना बड़ा भ्रम खड़ा ही कैसे हुआ कि इसके रचयिता तिरुवल्लुवर थे? तमिल की जैन परम्परा में यह प्रचलित है कि एलाचार्य (आचार्य कुन्दकुन्द) एक महान साधक व गण्यमान्य आचार्य थे, अतः उनके लिए अपने ग्रन्थ को प्रमाणित

---

1. "The real author of the work which speaks of the four topics is Thevar. But ignorant people mentioned the name of Valluwar as the author. But wise men will not accept this statement of ignorant fool."
—Ibid. Introduction, p. XII.
2. Ibid. Introduction, p. X.
3. Ibid, Introduction p. XII
4. Ibid. [illegible]

कराने की दृष्टि से मदुरा की सभा में जाना उचित नहीं था। इस स्थिति में उनके गृहस्थ शिष्य श्री तिरुवल्लुवर इस ग्रन्थ को लेकर मदुरा की सभा में गए और उन्होंने ही विद्वानों के समक्ष इसे प्रस्तुत किया। इसी घटना-प्रसंग से तिरुवल्लुवर इसके रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हो गए।[1] दूसरा कारण यह भी था कि आचार्य कुन्दकुन्द ने यह ग्रन्थ वल्लुवर को प्रचारार्थ सौंपा था और वे इसका प्रचार करते थे, अतः सर्वसाधारण ने इन्हें ही इसका रचयिता माना। ऐसा भी संभव है कि आचार्य कुन्दकुन्द इस ग्रन्थ को सर्वमान्य बनाए रखने के लिए अपना नाम इसके साथ जोड़ना नहीं चाहते थे, जैसे कि उन्होंने अपने देव का नाम भी सीधे रूप में ग्रन्थ के साथ नहीं जोड़ा। रचयिता का नाम गौण रहे, तो प्रचारक का नाम रचयिता के रूप में किसी भी ग्रन्थ के साथ सहज ही जुड़ जाता है।

उपसंहार

'तिरुकुरल' काव्य आज दो सहस्र वर्षों के पश्चात् भी एक नीति-ग्रन्थ के रूप में समाज के लिए बहुत उपयोगी है। समग्र जैन समाज के लिए यह गौरव का विषय होना चाहिए कि एक जैन-रचना पंचम वेद के रूप में पूजी जा रही है। अपेक्षा है, इस सम्बन्ध में अन्वेषण-कार्य चालू रहे। यह ठीक है कि एतद्विषयक बहुत सारी शून्यताएं तमिल की जैन परम्परा भर देती

---

1. Thirukkural, Ed. by Prof. A. Chakravarti, Introduction, p. XIII
   "According to the Jaina tradition, Elacharya was a great Nirgrantha Mahamuni, a great digamber ascetic, not caring for wordly honours. His lay disciple was delegated to introduce the work to the scholars assembled in the Madura academy of the sangh[illegible] Hence the introduction was by Valluwar, who place[illegible] it before the scholars of the Madura [illegible] their approval.

हैं, पर अपेक्षा है उन शून्यताओं को ऐतिहासिक प्रमाणों से और भर देने की। प्रो० ए० चक्रवर्ती ने इस दिशा में बहुत प्रयत्न किया है, पर अपने प्रतिपादन में कुछेक आधार उन्होंने ऐसे भी लिये हैं, जो शोध के क्षेत्र में बड़े लचीले ठहरते हैं। जैसे तिरुकुरल के धर्म, अर्थ, काम आदि आधारों की कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों में वर्णित चत्तारि मंगल के पाठ से पुष्टि करना। जैनेतर जगत् के सामने वे ही प्रमाण रखने चाहिए, जो विषय पर सीधा प्रकाश डालते हों। खींचतान कर लाए गए प्रमाण विषय को बल न देकर प्रत्युत निर्बल बना देते हैं। आग्रहहीन शोध ही लेखक की कसौटी है। शोध का सम्बन्ध सत्य से है, न कि सम्प्रदाय से।

२

आगम साहित्य और त्रिपिटक साहित्य में शब्द-साम्य व उक्ति-साम्य

भगवान् महावीर की वाणी और उनके जीवन-वृत्तों का तात्कालिक संकलन द्वादशांगी या गणिपिटक कहा जाता है और भगवान् बुद्ध से सम्बन्धित तात्कालिक संकलन को त्रिपिटक। दोनों का अध्ययन करते समय ऐसा अनुभव होने लगता है कि हम किसी एक ही क्षेत्र, काल और संस्कृति में विहार कर रहे हैं। एतद्विषयक समता यहाँ से प्रारम्भ हो जाती है कि शास्त्र के अर्थ में पिटक शब्द दोनों ही परम्पराओं ने अपनाया है। यह ज्ञान-मंजूषा गणी तथा आचार्य के लिए है, इसलिए इसे गणिपिटक कहा गया है। गणी शब्द का प्रयोग महावीर, बुद्ध आदि तात्कालिक धर्म-प्रवर्तकों के अर्थ में भी बौद्ध परम्परा में मिलता है।[1] हो सकता है, संघनायक भगवान् महावीर से उद्भूत वाणी के अर्थ में ही जैन परम्परा ने गणिपिटक शब्द को अपनाया हो। दोनों प्रकार के पिटकों में अनेकानेक शब्दों का प्रयोग समान रूप से मिलता है। बहुत सारे शब्द तो ऐसे हैं, जिनका प्रयोग जैन और बौद्ध, दोनों ही परम्पराओं में देखा जाता है। यह शब्द-समता इस तथ्य को असाधारण रूप से पुष्ट कर देती है कि दोनों परम्पराओं का ज्ञान-प्रवाह कभी-न-कभी किसी एक ही स्रोत से अवश्य सम्बन्धित रहा है।

---

१. संयुत्त निकाय, दहर सुत्त (३-१-१), पृ० ६८, दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, १।२, सुत्तनिपात, सभिय सुत्त, पृ० १०८ से ११० आदि

नगर व देश—नालन्दा, राजगृह, कयंगला, श्रावस्ती आदि नगरों व अंग, मगध आदि देशों के नाम व वर्णन दोनों आगमों में समान रूप से मिलते हैं।

उक्ति-साम्य

जैनागम कहते हैं—व्यक्ति तीन उपकारक व्यक्तियों से उऋण नहीं होता—गुरु से, मालिक से और माता-पिता से।[१] वहां यह भी बताया गया है कि अमुक प्रकार की पराकाष्ठा-परक सेवाएं दे देने पर भी वह अनृऋण ही रहता है। लगभग वही उक्ति बौद्ध आगमों में मिलती है। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ, सौ वर्ष तक एक कन्धे पर माता को और एक कन्धे पर पिता को ढोए, और सौ वर्ष तक ही वह उनके उबटन, मर्दन आदि करता रहे, उन्हें शीतोष्ण जल से स्नान कराता रहे, तो भी न वह माता-पिता का उपकारक होता है, न प्रत्युपकारक। यह इसलिए कि माता-पिता का पुत्र पर बहुत उपकार होता है।[२] जैनागमों ने धार्मिक सहयोग को उऋण होने का आधार माना है।

दो अरिहन्त— जैनागमों की सुदृढ़ मान्यता है—भरत आदि एक ही क्षेत्र में एक साथ दो तीर्थंकर नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ ! इस बात की तनिक भी गुंजाइश नहीं है कि एक ही विश्व में एक ही समय में दो अर्हत् सम्यग् संबुद्ध पैदा हों।[३]

स्त्री—अर्हत, चक्रवर्ती शब्द—जैनों की मान्यता है ही कि अर्हत्, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि स्त्रीभाव में कभी नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ, यह तनिक भी सम्भावना नहीं है कि स्त्री-अर्हत् चक्रवर्ती व शुक्र हो।[४] श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार मल्ली स्त्री तीर्थंकर थी, पर वह कभी न होनेवाला आश्चर्य था।

—

३

कालिदास और माघ के युग में घूंघट

शकुन्तला के घूंघट

कुछ ही वर्षों पूर्व मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' को मैं 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पढ़ा रहा था। सहसा एक श्लोक पर विशेष ध्यान केन्द्रित हुआ—

> केयमवगुण्ठनवती नाति परिस्फुट शरीर लावण्या।
> मध्ये तपोधनानां किसलयामिव पाण्डु पत्राणाम्॥

—अर्थात् दो तपस्वियों के साथ यह पर्देवाली कौन आ रही है? इस श्लोक की कथावस्तु थी—अयोध्या के राजा दुष्यन्त ने ऋषि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से गन्धर्व-विवाह कर लिया था। राजा पुनः अयोध्या चला गया और इस घटना को भूल गया। कण्व के आदेश से दो ऋषि और वृद्धा गौतमी शकुन्तला को लेकर दुष्यन्त की राजसभा में आए। दुष्यन्त शकुन्तला को दूर से ही देखकर सोचता है—'यह ऋषियों के साथ अवगुण्ठन वाली स्त्री कौन है?'

अनेक प्रश्नोत्तरों के पश्चात् भी राजा दुष्यन्त शकुन्तला को नहीं पहचान सका। उस समय गौतमी ने यह कहकर शकुन्तला का घूंघट दूर किया—"जाते मुहूर्तकं—मालज्जस्व, अपनेष्यामि तेऽवगुण्ठनम्। ततो र्ता त्वामभिज्ञास्यति—बेटी! कुछ देर के लिए लज्जा छोड़। मैं तुम्हारा ग्रट दूर करती हूं। तब तुम्हारे पति पहचान जायेंगे।"

मन में आया, शकुन्तला उस भरत की माता थी, जो सिंहों के साथ खेला करता था। क्या उस भरत की माता पर्दा रखती थी? महाकवि कालिदास का यह सुप्रसिद्ध नाटक है। शकुन्तला की बात को हम छोड़ दें, तो भी इतना तो प्रतीत होता ही है कि महाकवि कालिदास के युग में पर्दा-प्रथा थी, भले ही वह राजघराने की स्त्रियों में ही रही हो। यह भी मन में आया कि पर्दा-प्रथा के निराकरण में हम जो अब तक कहते आ रहे हैं कि पर्दा मुसलमानी युग की देन है, क्या वह वास्तविक और ऐतिहासिक है?

चिन्तन यहीं रुक गया। प्रसंग से यह सम्मुल्लेख याद आता, तो यही सोचकर फिर विश्राम लेना होता कि इस विषय पर कभी विशेष चिन्तन करना है।

श्रीकृष्ण की रानियों के घूंघट

कुछ ही दिनों पूर्व कांकरोली (राजस्थान) में सं० २०१६ फाल्गुन में साध्वी अशोकश्रीजी को 'शिशुपाल वध' महाकाव्य पढ़ा रहा था। प्रथम दो सर्ग उनकी परीक्षा में थे। एक दिन जब कि सरसरी तौर से अन्य-अन्य सर्गों को भी अपने आप देख रहा था, एक श्लोक पर उसी तरह आँख पड़ी—

> यानाज्जनः परिजनैरवतार्यमाणा,
> राज्ञीर्नरापनयनाकुल सौविदल्लाः ॥
> स्रस्तावगुण्ठन पटाः क्षण लक्ष्यमाणा ।
> वक्त्रश्रियः सभय कौतुक मीक्षतेस्म ॥

यह पांचवें सर्ग का सत्रहवां श्लोक है। श्रीकृष्ण रैवतक पर्वत पर विहार कर रहे हैं। सैनिकों, रानियों व अन्य सभी का पड़ाव लग रहा है। श्लोक में बताया गया है—"वाहनों से उतारी जाती हुई रानियों के घूंघट खिसक रहे हैं। लोग उनकी क्षण-लक्षी मुख-शोभा को भय और कौतुक से देख रहे हैं। दासियां दर्शकों को दूर हटाने में व्याकुल हो रही हैं।"

श्लोक पढ़ते ही मन में आया, महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के घूंघट लगा दिया और इस महाकाव्य के रचयिता महाकवि माघ ने कृष्ण

[illegible]

[illegible]

[illegible] कालिदास का समय ईस्वी चौथी शताब्दी के लगभग का और माघ का समय सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का माना है। उस समय मुसलमानी प्रभाव देश पर नहीं था, तब फिर यह क्यों दोहराया जाता है कि पर्दा-प्रथा मुसलमानी युग की देन है ?

गोपा घूंघट से मुक्त

इन्हीं दिनों बौद्ध साहित्य का अनुशीलन करते हुए इस प्रकार का एक सम्मुल्लेख और सामने आया जो उक्त दोनों उदाहरणों से भी अधिक महत्त्व का है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ 'ललित विस्तर' में लिखा है कि गौतम बुद्ध की पत्नी गोपा (यशोधरा) अवगुण्ठनमुक्त रहती थी। वह दूसरों से तर्क करती थी—अवगुण्ठन क्यों आवश्यक है? इससे भी प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में घूंघट-प्रथा थी और यशोधरा ने उस प्रथा का बहिष्कार किया।

इस खोज-पड़ताल का तात्पर्य यह तो नहीं है कि यदि पर्दा-प्रथा मुसलमानी युग की देन है, तो बुरी है और यदि भारत की प्राचीन परम्परा है, तो वह अच्छी है। किसी अच्छाई या बुराई का प्रमाण न तो प्राचीनता और नवीनता है तथा न हिन्दुत्व और मुसलमानीपन है। वस्तु की उपादेयता — वास्तविक आधार तो मनुष्य का अपना विवेक ही होता है। वर्तमान

युग में बुद्धि और विवेक पर्दा-प्रथा का कहां तक साथ देते हैं, उसकी श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता तो इसी पर निर्भर है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय पर्दा-प्रथा की उपादेयता सिद्ध करने का नहीं है। इसका उद्देश्य तो विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इस परम्परा के मूल उद्गम की शोध का है।

४

स्त्यानर्धि निद्रा और तत्सम उदाहरण

पांच प्रकार की निद्रा

स्थानांग सूत्र[1] में निद्रा के पांच भेद बतलाए गए हैं। इनका नाम-क्रम और तात्पर्य निम्न है—

१. निद्रा—जिसका आगमन और परिसमापन सुखपूर्वक हो।

२. निद्रा-निद्रा—जिसका आगमन और परिसमापन दोनों ही दुःखद हों।

३. प्रचला—जो बैठे-बैठे या खड़े-खड़े ही आ जाती है।

४. प्रचला-प्रचला—जो चलते-फिरते भी आ जाती है।

५. स्त्यानर्धि—जिस नींद में व्यक्ति कायिक आचरण करता है। यहां तक कि वह नींद में घर से उठकर भयानक जंगल में चला जाता है। पराक्रम और क्रूरता भी उसकी इतनी बढ़ जाती है कि वह हाथी के दांत अपने हाथों से उखाड़कर अपने घर ले आता है। फिर भी वह ज्यों-का-त्यों सो जाता है। जागने के बाद वह यही सोचता है कि यह सब मैंने स्वप्न में किया था। घर में रखे हाथीदांत ही इस बात की साक्षी देते हैं कि तुम्हारा निद्राचरण वास्तविक था।

---

१. णव विधे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते तं जहा—निद्दा, निद्दा-निद्दा, पयला, पयला-पयला, थीण गिद्धी, चक्खु दंसणावरणे, अचक्खु दंसणावरणे, अवधि दंसणावरणे, केवल दंसणावरणे।

—स्थानांग सूत्र, स्था० ९ सू० ६६८

उपरोक्त भेदों में से प्रथम तीन भेद सहज ही बुद्धिगम्य होते हैं। चौथा और पांचवां भेद साधारणतय कल्पनात्मक-सा लगता है। किसी भी विषय की तह में पैठे विना उस पर अपना एक निश्चित मत दे देना, आजकल प्रचलित तो बहुत हो चला है, पर वह वस्तुस्थिति के साथ न्याट्य कभी नहीं बन पाता।

आज विज्ञान का युग है। अन्य वस्तुओं की तरह निद्रा भी उसके अन्वेषण का एक अंग बन गयी है। विज्ञान के अनुसार मनुष्य निद्रा में भी दो प्रकार के व्यापार करता है। दोनों का ही सम्बन्ध स्वप्न से है। स्वप्न दो प्रकार के हो जाते हैं। एक प्रकार के स्वप्न वे जो मनुष्य की पलकों में ढलते हैं और वहीं विलीन हो जाते हैं। मनुष्य सोया-का-सोया रहता है। दूसरे प्रकार के स्वप्न वे, जिनमें मनुष्य उठकर बहुत सारे कार्य कर डालता है। ये स्वप्न कितने अद्‌भुत और भयावह होते हैं और सत्यानर्धि निद्रा की वास्तविकता को सिद्ध करने वाले होते हैं, यह अग्रांकित सात घटना-प्रसंगों से जाना जा सकता है। ये प्रसंग 'नवनीत (मई, १९५४) में प्रकाशित 'निद्राचरण प्रसंग' लेख से उद्धत किये गए हैं।

मित्र के विछोने पर प्रहार

दो शिकारी नील नदी के सघन जंगलों में शिकार खेलने गए। दोनों ही साहसी और उत्कट निशानेबाज थे। दोनों का उद्देश्य शेर और चीतों का शिकार करना था। एक रात, दिनभर की क्लान्ति के बाद दोनों नदी के किनारे सो गए। एकाएक किसी अज्ञात प्रेरणा से एक साथी की नींद खुली। उसके जरा-सी देर बाद दूसरा साथी भी उठा और 'बाघ-बाघ' चिल्लाया। चिल्लाते हुए उसने अपनी छुरी का भरपूर वार उस स्थान पर किया जहां कुछ क्षण पूर्व उसका साथी सो रहा था और जो अब उठकर एक ओर हो गया था। जोर-जोर से दो-तीन वार करके वह व्यक्ति फिर उसी प्रकार गहरी नींद में सो गया, जैसे पहले सो रहा था। अगले दिन सवेरे दोनों जब मिले, तब छुरी का वार करने वाले साथी ने इस बात से बिलकुल इनकार किया कि रात को उसने अपने साथी के विस्तर पर आक्रमण किया था। इतना जरूर उसे कुछ-कुछ स्मरण आया कि रात में

उसे एक बाघ दिखाई दिया था, जिसे उसने छुरी से मार डाला था। यदि उसके भाग्यशाली साथी की नींद समय पर न खुल जाती, तो शायद वह इस घटना को सुनने के लिए न बचता।

मां द्वारा तीन बच्चों की हत्या

एक महिला कुछ कट्टर धार्मिक स्वभाव की थी। उसके तीन बच्चे थे, जिनकी आयु सात साल से कम ही थी। एक दिन वे तीनों बच्चे पानी के हौज में मरे हुए पाये गए। घटना जितनी करुणाजनक थी, उतनी ही आश्चर्यजनक भी। महिला प्रसुप्त आचरण की शिकार थी। रात को सोते-सोते वह उठी। उसे लगा कि उसके तीनों बच्चे बहुत गन्दे हैं और कल चर्च में जाना है, अतः उसने बारी-बारी से एक-एक बच्चे को हौज में ले जाकर धोया तथा धोने के बाद उसने बच्चों को हौज में वहीं छोड़ दिया। स्वयं बिस्तर पर जाकर सो गई। सवेरे जब उसने अपने बच्चों को मरा हुआ देखा, तो उसकी मर्म-वेदना किसी भी मां से कम नहीं थी। परन्तु, रात की प्रसुप्ति में जब वह उन्हें मौत के घाट उतार रही थी, उस समय यह जानने में असमर्थ थी कि वह क्या कर रही है?

बेटे द्वारा मां की हत्या

जब सवेरे-सवेरे लोग अपने घर के बाहर निकले, तो वह व्यक्ति अपने घर के दरवाजे पर बैठा था। उसके सामने एक लाश पड़ी थी, जो उसकी बुढ़िया मां की थी। एक ओर खून से तरबतर एक कुल्हाड़ी पड़ी थी। लाश के ऊपर कुल्हाड़ी के तीन बड़े-बड़े घातक घाव थे। लोगों के पास आने पर भी उस हत्यारे पुत्र ने भागने की कोशिश नहीं की। पुलिस आने पर तो उल्टे वह फूट-फूट कर रो पड़ा। अब सारा किस्सा उसकी समझ में आ गया था। रात के अन्तिम प्रहर में वह सोते-सोते उठा और मां को चीता समझकर उस पर उसने कुल्हाड़ी से हमला किया। मां बेचारी तो पहली कुल्हाड़ी से ही ढेर हो गई, पर जिसे उसने चीता समझा था, उसे मारने के लिए उसने तीन कुल्हाड़ियां चलायीं। उसके बाद उसने चीते की टांग पकड़ी और उसे घसीटकर दरवाजे के बाहर डाल

दिया तथा उसके बाद खुशी-खुशी वह घर के अन्दर आकर सो गया। लगभग घंटे बाद ही दिन निकल आया। वह जागा और सदैव की भांति मां को पुकारा, जो प्रायः उससे पहले ही जाग जाया करती थी। कई बार पुकारने पर भी जब मां की आहट न मिली, तो वह दरवाजे के बाहर निकला और वहां बाहर पड़ी हुई मां की लाश को देखकर कटे हुए वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़ा।

कसाई-पुत्र द्वारा घुड़सवारी

एक कसाई का लड़का प्रतिदिन रात को सोते-सोते उठता, अपने घोड़े पर जीन कसता और छः-सात मील की घुड़सवारी करने के बाद घोड़े को बांध जीन उतारकर रख देता, ठीक उसी तरह जैसे जागता हुआ व्यक्ति करता है। फिर जाकर सो जाता। यह उसका लगभग नित्य का नियम था।

मित्र के पेट में छुरा

इसी प्रकार का एक मामला अदालत के सम्मुख आया था। एक व्यक्ति को एक दूसरे व्यक्ति ने झकझोरकर जगाया। तुरन्त जागा हुआ व्यक्ति क्षण भर तो हक्का-बक्का होकर देखता रह गया और उसके बाद उसने तुरन्त जगाने वाले के छुरा भोंक दिया। बाद में उसने बताया कि नींद से जागने के पश्चात् मैं एकाएक स्थिति को समझ नहीं पाया और मुझे लगा, मेरे प्राण संकट में हैं और मेरे सम्मुख आये मित्र के पेट में छुरा भोंककर मैंने अपना बचाव करना चाहा। साथियों द्वारा यह बात निर्विवाद रूप में प्रमाणित हो गई कि दोनों व्यक्तियों में परस्पर पूर्ण सौहार्द था। द्वेष अथवा प्रतिशोध का प्रश्न उठने की कोई गुंजाइश ही उनके बीच नहीं थी।

उलझन-भरे हिसाबों का समाधान

एक बार हॉलैण्ड की एक प्रसिद्ध व्यापारी कम्पनी ने अपने कई वर्षों के उलझे हुए हिसाब एम्सटर्डम कॉलेज के गणित के एक प्रोफेसर को

दिये। प्रोफेसर ने अपने सिर की बला टालने के लिए वे प्रश्न अपने विद्यार्थियों को सौंप दिए। परन्तु हिसाब बहुत उलझे हुए थे और सुलझाने का कोई तरीका नहीं सूझ पाता था। परन्तु प्रोफेसर के विद्यार्थियों में एक विद्यार्थी बहुत तेज था। उसने उन प्रश्नों को हल करने में सबसे अधिक परिश्रम किया। परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। और इसी असफल उधेड़बुन में वह दिन भी निकट आ गया, जिस दिन प्रोफेसर को हिसाब के समाधान भेज देने थे। उसी रात की बात है, वह विद्यार्थी रात में किसी समय सोते वक्त उठा, और काफी देर तक बैठे-बैठे लिखते रहने के बाद फिर सो गया। सवेरे जब वह उठा, तो देखा कि मेज पर वे सारे लिखे हुए कागज पड़े हैं, जिनमें वे उलझे हुए हिसाब बहुत ही स्पष्ट और संक्षिप्त रूप से सुलझा दिये गए हैं। जब इन उत्तरों को प्रोफेसर ने देखा, तो उसने स्वीकार किया कि इससे अच्छा हल निकालना खुद उसके लिए भी संभव न था। परन्तु वह विद्यार्थी स्वयं यह नही जानता था कि यह सब किसने और कब किया ?

वकील द्वारा अकाट्य तर्क की खोज

इससे मिलता-जुलता अचेत आचरण का एक उदाहरण एक वकील का भी था। उसके सामने एक बहुत ही पेचीदा मुकदमा था। एक दिन सवेरे वह उठा और अपनी पत्नी से कहने लगा, रात को मैंने इस मामले के ऐसे अकाट्य तर्क ढूढ़ निकाले थे कि मुकदमा सोलह आना मेरे पक्ष में होता, परन्तु दुःख यह है कि इस समय मुझे इस प्रसंग की कुछ याद नहीं रही। काश ! कोई स्वप्न की उन अमूल्य युक्तियों की याद दिला देता। वकील की पत्नी परेशान-सी नजर आयी और बोली, 'तो आप सारी रात भर लिखते क्या रहे ?' 'क्या मैं बैठकर लिखता रहा ? बिलकुल नहीं, मैं तो सारी रात सोता रहा।' 'वाह ! क्या कहते हैं ! मैंने चार बार रात में उठकर देखा, आप लिखते जा रहे थे और आपका ध्यान टूटे नहीं, इसीलिए मैंने आपसे कुछ कहा नहीं, पर आप आगे से इस तरह रात-रात भर मत जागा कीजिए। अबकी बार जब वकील ने प्रतिवाद किया, तो वकील की पत्नी ने मेज को

दराजों को खोलकर वे सारे कागज निकालकर बाहर रख दिए, जिन्हें वकील ने सारी रात जागकर लिखा था। उन्हें पढ़कर वकील की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उन कागजों में प्रत्येक युक्ति पूरे विस्तार के साथ लिखी गयी थी।

उक्त घटना-प्रसंगों से यह सहज ही जाना जा सकता है कि निद्रा के पांच भेदों का वर्गीकरण कितना वास्तविक और बुद्धिगम्य है।

५

राजस्थान का एक लोक-विश्वास : अद्भुत, पर चामत्कारिक

'श्री अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ' की विषय-सूची हाथ में ली और अपने योग्य कोई विषय खोजने लगा। जैन दर्शन और इतिहास खण्ड के किसी विषय पर लेख लिखने की बात मन में जमी। पर राजस्थान के लोक-जीवन और लोक-संस्कृति खण्ड पर ध्यान गया और 'राजस्थान के शकुन', 'राजस्थान के त्योहार', 'राजस्थान की लोक-कथाएं', 'राजस्थान के लोक-देवता' आदि विषय देखने में आए, तो सहसा राजस्थान का एक अद्भुत और प्रयुक्त लोक-विश्वास मन में उभर आया।

मुनिश्री ! गांठ लगाइए

एक बार मैं अपने साहित्यिक कार्य में संलग्न था। गतिमान कार्य में एक रुकावट आयी। एक आवश्यक कागज हाथ नहीं लगा। उसमें विषय-संबद्ध कुछ संकेत अंकित थे। बिखरी सामग्री में अनेक बार हाथ मारे, पर काम नहीं बना। एक-एक सामग्री को ध्यानपूर्वक टटोल-टटोलकर इधर-से-उधर रखा, पर व्यर्थ। मन झुंझला गया। चेहरे पर बेचैनी की रेखाएं उभर आयी। कुछ दूर बैठी राजस्थानी बहनें सामायिक कर रही थीं। मेरी परेशानी पर उन्हें कुछ करुणा आयी। वे बोलीं—"मुनिश्री! कपड़े के गांठ लगाकर आप खोजिए। हमारी सुई गुम हो जाती है, तब हम ऐसा

पर वे चीजें नहीं मिलीं। हारकर बैठ गए। गांठ लगाई कि दो-चार क्षणों में ही कोई दूसरा साधु उस वस्तु को लेकर वहीं पहुंचा, यह कहते हुए कि आपके नाम का लूहनक मुझे अमुक स्थान पर मिला था। आपका रजोहरण भूल से मैं ले गया था।

उजाले में नहीं, अंधेरे में मिला

हांसी की घटना है। आचार्यश्री तुलसी वृहत् साधु-सम्प्रदाय के साथ वहां वर्षावास बिता रहे थे। एक दिन एक मुनि सायंकालीन वन्दना के लिए मेरे पास आए। वे हैरान हो रहे थे। बताने लगे, "दिनभर से रजोहरण की खोज में लगा हूं, एक-एक कमरा छान लिया। एक-एक साधु को पूछ लिया। साध्वियों के स्थान पर भी तलाशी करा ली, कहीं अदला-बदली में चला गया हो तो। यहां की बड़ी-बड़ी अलमारियां भी इधर-उधर खिसकाकर देख लीं, पर रजोहरण का पता नहीं चला।"

मैंने कहा—"इतना कष्ट किया है, तो एक कष्ट और करो। चद्दर के एक गांठ लगाओ और एक चक्कर इधर-उधर और मार लो।"

मुनि मेधावी और तार्किक थे। उनको कहना ही था, "इससे क्या होगा?" मैंने कहा—"यह बुद्धि और तर्क का विषय नहीं, प्रयोग करके देखने का ही है।"

मुनि ने गांठ लगाई। किसी स्थित साधु का रजोहरण उनके पास था ही। भरने लगे लम्बे-लम्बे डग आस-पास के कमरों में। मुझे अच्छी तरह से याद है, तीन मिनट नहीं लगे होंगे, वे मुनि आनन्द और आश्चर्य में झूमते हुए वापस आए और बोले—"मुनिश्री! मेरा रजोहरण तो अगले कमरे में ही मेरे पैरों में आकर उलझ गया। अंधेरा इतना है, दीखता तो था ही नहीं।"

मैंने कहा—'दिन में यहां अनेक साधु बैठे थे। अनेक रजोहरण पड़े थे। संयोगवश तुम्हारा वह रजोहरण तुम्हारी आंखों से बचता रहा है और वह संयोगवश तुम्हारे पैरों में आ गया। ऐसी घटना कुछ नहीं है। पर इन संयोगवशता को फलित करने में गांठ लगाने की प्रभावशीलता [illegible] कुछ [illegible] समझ में आती है [illegible] मैंने [illegible] बार-बार आजमाया है।"

६

भारतीय लोक-जीवन में विज्ञान और अहिंसा

मंत्र-बल या अहिंसा-प्रभाव ?

२० मार्च, १९६७ के प्रातःकाल की घटना है। सुजानगढ़ से जयपुर की ओर जाते हुए हनुमान के परमधाम सालासर से कोई तीन मील दूर सड़क के एक ओर हम विश्राम कर रहे थे। एक तरुण सपेरा हमारे पास आ बैठा। हम चारों साधु नाटकीय ढंग से करवट लेती देश की राजनीति पर चर्चा कर रहे थे। उस सपेरे ने मेरा ध्यान तोड़ा। उसने बैठते ही पिटारी खोली और पूंगी (वीण) उठाई। सपेरा ज्यों-ज्यों गाल फुला-फुलाकर तथा सिर हिला-हिलाकर पूंगी पर जोर मार रहा था, जंगल के शान्त वातावरण में एक सिहरन-सी पैदा हो रही थी। मैंने अपने साधुओं से कहा, "मैं जो सपेरे की पूंगी को सर्वश्रेष्ठ वाद्य कहा करता हूं, क्या तुम्हें अभी यह सत्य अनुभव नहीं हो रहा है ?"

सबने एक साथ कहा, "इतना सीधा-सादा वाद्य और कैसा यह मन को खींच रहा है।" कुछ ही क्षणों में पिटारी में सोया लम्बा और मोटा-सा कोबरा सांप सजग हो उठा और लगा उस सपेरे से अठखेलियां करने। सपेरे ने पूंगी छोड़ दी, सांप को हाथ में उठा लिया। कभी वह उसे गले में डालता था, तो कभी अपनी गोद में खिलाता था। मैंने सपेरे से कहा, "सांप तुम्हें काटता क्यों नहीं ? इसके दांत उखाड़ दिये गए हैं या इसका

७

अद्भुत पूर्वाभास

जब भी एकान्त वार्तालाप का प्रसंग बनता, भंवरलालजी दूगड़ (सरदारशहर) व्यक्तिगत या सामाजिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर विचार-विनिमय करते। मेरे साथ उनका अन्तिम वार्तालाप-प्रसंग उनके निधन-काल से कुछ महीने पूर्व दिल्ली में बना। उसी वार्तालाप में मैंने उनके एक अन्तरंग विश्वास को जाना। उन्होंने कहा—"मेरे जीवन में इन दिनों कुछ पूर्वाभास की अनुभूतियां निखर रही हैं। उनके कुछेक उदाहरण मैं आपके सम्मुख रखता हूं। कृपया आप बताएं, उनके पीछे बुद्धिगम्य आधार क्या है ?"

प्रथम घटना

आचार्यश्री तुलसी सरदारशहर में विराज रहे थे। मुनि रंगलालजी प्रभृति कतिपय साधु तेरापंथ संघ से पृथक् हो रहे थे। सामंजस्य बिठाने के अनेक प्रयत्न विफल हो चुके थे। वे सब साधु उस समय राजलदेसर में थे। यही पहलू समाज में दिन-प्रतिदिन की चर्चा का विषय था। मैं उसमें तब तक प्रत्यक्षतः व परोक्षतः विशेष सम्बन्धित नहीं था।

एक दिन जब कि मैं जाप में लगा था, सहसा एक अनुभूति हुई—इस समस्या में हाथ क्यों नहीं डालते, सफलता मिलेगी। रह-रहकर वही अनुभूति पुनः-पुनः चिन्तन में अवतरित होने लगी। मैं स्वयं नहीं समझ पा रहा था, ऐसा क्यों हो रहा है ? मन में एक साहस-सा आ गया। उठा,

पिताजी के पास आया। मन की बात कही। उन्होंने भी आशा की और मैं लग गया। जो परिणाम आया, वह सबके सामने है ही।

दूसरी घटना

द्वितीय पूर्वाभास जिसका मैं उल्लेख करने जा रहा हूं, कुछ ही दिन पूर्व का है। यह सर्वविदित है कि वि० सं० २०१७ के चातुर्मास में सरदार-शहर में भयंकर वर्षापात हुआ। लाखों रुपयों की हानि हुई। सचमुच ही वह रात प्रलय-रात-सी थी। धड़ाधड़ मकान गिर रहे थे। ऊपर से रह-रहकर बिजली कड़क रही थी।

इस घटना का पूर्वाभास लगभग मुझे दो दिन पूर्व ज्यों-का-त्यों हुआ। अनुभूति में आया, सरदारशहर पानी में डूब रहा है। यह बात मैंने अपने साथियों से भी कही। हम लोग इस आधार पर सुरक्षा पर भी जुट पड़े थे। दो दिन बाद वही हुआ, जो मैंने दो दिन पूर्व जान लिया था।

उक्त दोनों घटनाओं के उत्तरार्द्ध से वे भली-भांति अवगत था। पहली घटना में उनके प्रयत्न के परिणामस्वरूप सभी साधु पुनः संघ में आए। दूसरी घटना में वर्षा-पीड़ितों के लिए भवरलालजी की सेवा एक अपूर्व इतिहास बन चुकी थी। दोनों ही घटना-प्रसंगों पर उन्हें अपने सेवा-कार्य से असाधारण श्रेय मिल चुका था।

उनके प्रश्न का आशय था, ऐसा पूर्वाभास कोई दैवी ज्ञान का फल होता है या कोई आत्म-ज्ञान का भेद-प्रभेद ?

मैंने कहा—"यह प्रश्न नवीन है। यह नितान्त शास्त्रीय या पारम्परिक नहीं है कि इसका दो-टूक उत्तर एकदम से दिया जा सके। शास्त्रीय दृष्टि से ये प्रसंग मेरी दृष्टि में अवधिज्ञान से भी अधिक मतिज्ञान के निकट होते हैं। अवधिज्ञानी रूपी पदार्थों का साक्षात् द्रष्टा होता है। मतिज्ञान की उज्ज्वलता में भूत के प्रतिबिम्ब पिछले जन्मों तक भी जा सकते हैं। जाति-स्मरण मतिज्ञान की ही एक पर्याय विशेष है। दूरदर्शिता उज्ज्वल मति का परिचायक है, अतः यह सोचा जा सकता है कि उस प्रकार के अदृष्ट के आभास भी मतिज्ञान-जन्य हों, फिर भी निश्चित रूप से इस विषय में कुछ भी कह सकना कठिन है।"

है। जहां तक मेरा अनुभव है, इस प्रकार के पूर्वाभास किसी-न-किसी निमित्त को पकड़कर व्यक्त होते हैं। इसीलिए लोग उन्हें स्वप्नाधीन व देवाधीन मानने लगते हैं।" मैंने कहा।

प्रेतात्मा-साक्षात्कार

उक्त प्रसंग के समाप्त होते ही उन्होंने एक अन्य जिज्ञासा खडी कर दी। उन्होंने कहा—"प्रेतात्मा के विषय में भी मुझे हाल ही में एक विचित्र अनुभव हुआ। उस पर भी हमें विचार करना है कि यह कैसे सम्भव हुआ।" उन्होंने बताया—"अमुक यात्रा में मैं एक सराय में ठहरा था। रात के लगभग बारह बजे मैं अपना जाप कर रहा था। मेरे कमरे का दरवाजा खुला था। सामने वाले कमरे का दरवाजा बन्द था। कोई एक व्यक्ति उसके बाहर लेट रहा था। मैंने पूर्ण जागरूक स्थिति में देखा, एक छायाकृति अधर आकाश में चलती हुई सामने वाले कमरे में प्रवेश कर रही थी। मैं ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। कुछ ही देर बाद वह छायाकृति पुन: उस कमरे से बाहर निकली। वह छायाकृति मनुष्याकार जैसी थी। उसके आकार-प्रकार से एक नौजवान का आभास मिलता था। उसके आंख, कान आदि शरीर संहनन से मेरे मस्तिष्क में एक पूर्ण मानव बिम्ब आ गया। वह छायाकृति ज्योंही उस कमरे से निकलकर शनैः-शनैः चलती हुई आकाश में लीन हुई, उस कमरे से एक महिला के चिल्लाने की-सी आवाज आयी। बाहर सोये हुए आदमी ने दरवाजा खोला और वह उस महिला को ढाढ़स देने लगा कि बहू, डरो मत, कुछ नहीं है। मैं अपना जाप छोड़कर तत्काल वहां से उठा और उसी कमरे में आ गया। उस आदमी से मैंने पूछा—"क्या बात है?" उसने कहा—"मेरा लड़का विवाह के कुछ ही समय पश्चात् इस संसार से चल बसा। यह मेरी पुत्र-वधू है। उसकी प्रेतात्मा आकर इसे सदा ही भयभीत करती है।"

मैंने उस व्यक्ति से पूछा—"क्या आपका लड़का इतना-सा लम्बा, अमुक प्रकार की आकृति वाला, इतना-सा मोटा-पतला था?"

उस व्यक्ति को बहुत आश्चर्य हुआ कि मैंने उस लड़के का हुलिया कैसे बता दिया? उसने कहा—"मेरा लड़का ठीक ऐसा ही था। आपने

श्लोकों का मुखस्थ होना संघ में एक साधारण बात समझी जाती है। साठ हजार श्लोकों को कंठस्थ करने वाले साधु भी इस धर्म-संघ में हो चुके हैं। आचार्यश्री तुलसी ने अपने विद्यार्जन-काल में व्याकरण, न्याय, कोश, आगम आदि के रूप में इक्कीस सहस्त्र श्लोक परिमाण गद्य-पद्य कंठस्थ किए थे। साधारणतया यह सोचा जा सकता है, आज के युग में रटन-विद्या की क्या उपयोगिता है ? कुछ लोगों का यह विश्वास है कि रटन-विद्या से मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है, यह बहुत ही निराधार धारणा है। रटना तो स्वयं एक स्नायु-व्यायाम है। इससे स्मरण-शक्ति का विकास होता है। देखा जाता है, प्रारम्भ में दो-चार श्लोक भी कठिनता से याद कर सकने वाले साधु अभ्यास-वृद्धि से प्रतिदिन पचास श्लोक सुगमता से याद करने लगते हैं। पैदल चलने का अभ्यासी व्यक्ति अपने पैरों की शक्ति खो नहीं देता, प्रत्युत वह अपनी उस शक्ति का विकास कर लेता है। पैदल चलने से शक्ति क्षीण होगी, यह मानकर निरन्तर बैठा रहने वाला व्यक्ति अवश्य बहुधा अपने पैरों से हाथ धो लेता है। यही स्थिति मस्तिष्क के विषय में देखी जाती है। यथाविधि रटन करने वाला व्यक्ति अपने स्मृति-स्नायुओं को बहुत सुदृढ़ बना लेता है और वे उसका जीवन भर साथ देते हैं।

कंठस्थ विद्या की उपयोगिता में तो किसी को दो मत होने का कारण ही नहीं है। 'ज्ञान कंठां, दाम अंटां' राजस्थानी की यह कहावत बहुत यथार्थ है कि समय पर ज्ञान तो वही काम आता है, जो कंठस्थ हो और दाम (पैसा) वही काम आता है जो जेब में हो। दर्शन, न्याय और व्याकरण के प्रौढ ज्ञान के लिए कंठस्थ ज्ञान का सहारा हुए बिना व्यक्ति आगे चल नहीं सकता। मैं मानता हूं, कंठस्थ ज्ञान की परम्परा का ही सुपरिणाम है कि संघ में अनेकानेक साधु शतावधानी हो गए हैं। स्मरण-शक्ति के उन अद्भुत प्रयोगों की चर्चा गांवों से लेकर राष्ट्रपति-भवन और राजदूतावासों तक होती रही है। सैकड़ों अंकों को, संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे विस्तृत श्लोकों को, अज्ञात भाषाओं के वाक्यों को श्रवण मात्र से याद कर लेना और घंटों पश्चात् ज्यों-का-त्यों दोहरा देना आज के डायरी-प्रधान युग में अवश्य विलक्षण है। तेरापंथ ने स्मृति के इस स्वरूप को

सुरक्षित और विकासोन्मुख रखकर तत्सम्बन्धी ध्यान, धारणा आदि योगांकों को मूर्त रूप में बचा लिया है।

तपश्चर्या

श्रमण गौतम बुद्ध का मन भले ही तपश्चर्या से ऊब गया हो, पर समग्र भारतीय संस्कृति में तपश्चर्या मोक्ष-साधना का प्रमुख अंग रही है। आज भी कोटि-कोटि भारतीयों के मस्तिष्क उन तपस्वी ऋषि-मुनियों के प्रति श्रद्धावनत होते हैं। तेरापंथ श्रमण संघ में वह तपश्चर्या आज भी अपने उत्कर्ष पर मिल रही है। अतीत के दो सौ वर्षों के होने वाले तप का लेखा-जोखा तो बहुत विस्तृत है, पर वर्तमान में भी लघुसिंह-निष्क्रीडित, रत्नावली, वर्धमान, भद्रोत्तर आदि भीषणतम कहे जाने वाले तप साधु-साध्वियां करते रहते हैं। गत वर्ष साध्वीश्री भूरांजी ने केवल उबली हुई तक्र का नितरा पानी पीकर ही ३३६ दिन की तपस्या की है। अपने प्रकार की यह अभूतपूर्व तपस्या है। केवल पानी पीकर महीनों की तपस्याएं आज भी अनेकधा होती रहती हैं। इन मूक तपस्याओं का आडम्बर या प्रदर्शन नहीं होता। देश के बहुत थोड़े लोग हैं, जो यह जानते हैं कि आज भी देश में तपश्चर्या का यह उत्कर्ष वर्तमान है।

लिपि-कौशल

हाथ से लिखना इस यंत्रवादी युग में मिटता जा रहा है। यह भी एक कौशल था और पिछली सदियों में बहुत विकसित हुआ था। आज के युग में इसकी कितनी उपयोगिता है, इस चर्चा में हम यहां नहीं जाएंगे, किन्तु यह बता देना अवश्य रुचिकर लगता है कि तेरापंथ श्रमण-संघ में आज भी हाथ से लिखने की महती उपयोगिता है। सुन्दरता और सूक्ष्मता की दृष्टि से देवनागरी लिपि का जो यहां विकास हुआ है, उसे अतीत और वर्तमान में निरुपम कहा जा सकता है। समस्त मुद्रण विकास उस सौन्दर्य के सामने फीका हो जाता है और लिपि की सूक्ष्मता की तुलना में तो आज का मुद्रण-विकास कहीं ठहर ही नहीं सकता। एक-एक चौरस इंच अवकाश में १६०० अक्षर बिना किसी चश्मे या आईग्लास की अपेक्षा

प्राचीन विद्याओं का अन्वेषण आवश्यक

प्राचीन विद्याओं के विषय में यह मान लेना कि ये सब अयथार्थ ही हैं, क्योंकि विज्ञान-समर्थित नहीं हैं, श्रेयस्कर नहीं है। विचारकता तो यह है कि तथाप्रकार की विद्याओं का अध्ययन, अन्वेषण तथा मनन किया जाए। बहुत सारी प्राचीन विद्याएं धीरे-धीरे विज्ञान के क्षेत्र में समा सकती हैं और विज्ञान की वृद्धि भी कर सकती हैं। कुछ विद्याओं की वैज्ञानिकता आज हमारी समझ में नहीं आ रही है, पर उनके परिणाम अवश्य स्वतः सिद्ध हैं; उदाहरणार्थ ग्रह-विज्ञान (ज्योतिष) हस्तरेखा-विज्ञान। ग्रह-विज्ञान के दो भेद हैं—फलित और गणित। गणितिक ग्रह-विज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में सर्वथा सम्मत है। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि उसके परिणाम हैं। फलित विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है। मानव-जीवन पर ग्रहों के गति-क्रम का असर होता है, यह अब तक जरा भी विज्ञानसम्मत नहीं है, क्योंकि आकाश में स्वतंत्र विहार करने वाले ग्रहों का सम्बन्ध मनुष्य के भाग्य से जुड़ सकता है, यह वहां सोचा ही नहीं जा सकता है। हस्तरेखा-ज्ञान का भी वही हाल है। भारतवर्ष में दोनों विद्याओं पर बहुत कुछ सोचा गया है, लिखा गया है।

मनुष्य के भाग्य के साथ रेखाओं तथा ग्रहों का क्या सम्बन्ध है, यह अब तक वैज्ञानिक परिभाषा में नहीं बताया जा सका। किन्तु कोई सम्बन्ध अवश्य है, यह तटस्थ परिशीलन से निर्विवाद जाना जा सकता है। केवल एक प्रमाण इस विषय में यह है कि ग्रहों का और हस्त-रेखाओं का भी एक पारस्परिक सम्बन्ध है। मनुष्य के जन्म के समय ग्रहों का जिन राशियों में अवस्थान होता है, उसके मानचित्र को कुण्डली कहते हैं। महान् आश्चर्य तो यह है कि किसी भी मनुष्य का हाथ देखकर भी उसकी कुण्डली बनाई जा सकती है। पचास वर्ष आयु वाले मनुष्य के हाथ को देखकर जब उसकी जन्म-पत्री बना दी जाती है, उसका अर्थ यह होता है कि उस जातक के जन्म-काल में ग्रह इस स्थिति में थे, यह उस हाथ में लिखा पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्योतिर्विज्ञान और हस्तरेखा प्रकृति के लिए ऐसे तथ्य हैं, जिनसे मनुष्य इनकार नहीं हो

सकता। ऐसी स्थिति में दोनों ही विषय केवल अन्धविश्वास न रहकर वैज्ञानिक तथ्यों का रूप ले लेते हैं।

ग्रहों के साथ व्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध

भविष्यवाणियां मिलती भी हैं और नहीं भी, इसलिए ये असंदिग्ध आधार नहीं बन पातीं। इस विषय में सबसे बड़ा रहस्य या सबसे बड़ा प्रमाण है, हस्त-रेखाओं के आधार पर जन्म-कुण्डलियों का बन जाना। जन्म-कुण्डली स्वयं गणित है। वह व्यक्ति के जन्म-समय का आकाशीय मानचित्र है। वह इतना ही ब्योरा देती है कि व्यक्ति जब जन्मा था, तब अमुक-अमुक ग्रह आकाश में इस स्थिति में थे। जन्म से पचास वर्ष बाद भी यदि उसकी हस्तरेखाएं उस आकाशीय मानचित्र को प्रतिबिम्बित कर देती हैं, तो सहसा प्रश्न उठता है, यह क्यों ? व्यक्ति के रेखाचिह्नों और उसके जन्म-दिन के आकाशीय चित्र में कहां का सम्बन्ध ? पर ऐसा होता है। न होने की बात वे ही कह सकते हैं, जिनका इस विषय से थोड़ा भी लगाव नहीं है। रेखाशास्त्र में हस्त-रेखाओं से जन्म-कुण्डली निकालने की व्यवस्थित प्रणालियां बन चुकी हैं। इस वास्तविकता से जो निकलता है, वह यह है कि व्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में इन ग्रहों के साथ में है। वह क्यों है, भले ही इसका उत्तर वैज्ञानिक शब्दावली में हमारे पास न हो, पर विज्ञान ने यह कब कहा है कि मैं सब जगह पहुंच चुका हूं। हर दिशा में पहुंचना उसका ध्येय है। उसके न पहुंचने का अर्थ अन्धविश्वास नहीं होता।

१०

जैन मान्यता में पुनर्जन्म और लोकोत्तर ज्ञान

पुनर्जन्म

लगभग सभी भारतीय धर्मों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान्य है, पर एक जीवन से दूसरे जीवन में व्यक्ति किस पद्धति से प्रवेश पाता है, इस विषय में विभिन्न धारणाएं मिलती हैं। जैन शास्त्रों में इस सम्बन्ध में व्यवस्थित व भरा-पूरा ब्योरा मिलता है। जैन मान्यता के अनुसार समग्र संसारी प्राणी चार गतियों में बंटे हैं—मनुष्य-गति, देवगति, तिर्यञ्च-गति और नरक-गति। प्रत्येक गति में भी प्राणियों की अनेक कोटियां होती हैं अर्थात् विभिन्न श्रेणियों के देव होते हैं और विभिन्न श्रेणियों के मनुष्य और तिर्यञ्च। देवगति से कोई भी प्राणी सीधा नरक-गति में प्रवेश नहीं पाता और नरक-गति का कोई प्राणी सीधा देवगति में प्रवेश नहीं पाता। मनुष्य और तिर्यञ्च चारों ही गतियों में सीधा ही प्रवेश पा सकते हैं।

एक जीवन से दूसरे जीवन में जब कोई आत्मा जाती है, तब उसकी गति अत्यन्त तीव्र होती है। किसी भी गति में या लोक के किसी भी भाग में उसको जन्म लेना हो, तो भी अधिक-से-अधिक चार 'समय' और कम-से-कम एक 'समय' लगता है। काल का सूक्ष्मतम अंश एक 'समय' कहलाता है। आंख की पलक उठाने या गिराने मात्र में असंख्य 'समय' बीत जाते हैं, इतना सूक्ष्म वह होता है।

एक जीवन से दूसरे जीवन में जाते समय आत्मा के साथ स्थूल देह नहीं जाता, पर कार्मण और तेजस् देह अवश्य उसके साथ जाते हैं। कार्मण शरीर आत्मा द्वारा संगृहीत कर्म-परमाणुओं का उपचय ही होता है। वह चतुःस्पर्शी होता है। तेजस् शरीर उससे कुछ स्थूल होता है। वह अष्टस्पर्शी होता है अतः उसमें हल्कापन व भारीपन भी होता है। उसका स्वरूप पौद्गलिक ऊष्मा की भांति होता है और वह आगे जाकर जठराग्नि के रूप में भी काम करता है।

नये जीवन में प्रवेश पाते ही प्राणी अपनी गति के अनुरूप पर्याप्ति-बन्ध करता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य-गति में जो आत्मा जन्म धारण करती है, सर्वप्रथम वह आहार-पर्याप्ति का बन्ध करती है। अर्थात् शुक्र और रज रूप परमाणु-स्कन्धों को अपने अस्तित्व के साथ पकड़ लेती है। फिर वह शरीर-पर्याप्ति का बन्ध करती है। उन गृहीत स्कन्धों को शरीर रूप में परिणत करती है अर्थात् नाक, आंख, कान आदि इन्द्रियों का अस्तित्व उस शरीर में अंकित कर लेती है। इसी प्रकार क्रमशः श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—इन तीनों पर्याप्तियों का बन्ध कर लेती है। यह सारी प्रक्रिया एक मुहूर्त से भी कम समय में सम्पन्न हो जाती है। इसके बाद उस आत्मा और शरीर का लगभग नौ मास तक माता के उदर में विकास होता रहता है।

आधुनिक शरीर-विज्ञान की मान्यता है कि गर्भाधान के कुछ मास पश्चात् गर्भपिण्ड में जीवन आता है। शरीर-विज्ञान की यह धारणा यथार्थ नहीं लगती। बिना आत्मा के आए गर्भपिण्ड का बनना और विकसित होना बुद्धिगम्य नहीं है। यह भले ही सम्भव हो सकता है कि गर्भ का अव्यक्त जीवन कुछ मास के पश्चात् ही इतना स्पष्ट हो, जो आधुनिक शरीरशास्त्रियों की पकड़ में आता हो।

भगवान् महावीर के युग में नव-जीवन-प्रवेश के विषय में अनेक मान्यताएं थीं। समसामयिक धर्मनायक गोशालक का अभिमत था कि मृत शरीर में भी दूसरी आत्माएं जन्म लेती हैं। वे स्वयं के विषय में भी कहते थे कि मैं गोशालक के शरीर में उदायी नाम का व्यक्ति हूं। महावीर ने उनकी इस मान्यता का खण्डन किया था।

लोकोत्तर ज्ञान

जैन मान्यता के अनुसार आत्मा अपने स्वभाव से अनन्त ज्ञान-सम्पन्न है। आत्मा का ज्ञान कर्म-आवरण से आच्छादित रहता है। उस प्रकार के कर्म को ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है। आठ प्रकार के कर्मों में उसका एक प्रमुख स्थान है। ज्ञान ही चैतन्य का लक्षण है। ज्ञानावरणीय कर्म की अधिकतम सघनता में भी प्रत्येक प्राणी में कुछ ज्ञानांश अवश्य उद्घाटित रहता है। ऐसा न हो तो जड़ व चेतन में कोई लाक्षणिक भेद नहीं रहता। मनुष्य देह में अल्पांश से लेकर समग्र ज्ञान तक का उद्घाटन सम्भव है।

ज्ञान पांच प्रकार का होता है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान। इनमें प्रथम दो ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष और मन-सापेक्ष होते हैं। अन्तिम तीन ज्ञान अतीन्द्रिय होते हैं। इन्द्रिय और मन के व्यापार से रहित रहकर भी आत्मा पदार्थ का साक्षात् करती है। उत्कृष्ट अवधिज्ञान समग्र परमाणु जगत् को साक्षात् देख सकता है। अवधिज्ञान के अनेक स्वरूप होते हैं। कुछ लोगों को वह इस प्रकार से भी होता है कि वे एक क्षेत्र विशेष में बैठकर अपने अवधिज्ञान के अनुरूप से कुछ जानते हैं। उस क्षेत्र से हटते ही वे कुछ नहीं जान पाते। पुनः उस स्थान पर आते ही वे पुन अवधिज्ञानी हो जाते हैं। एक अवधिज्ञान ऐसा भी होता है, जो क्षेत्र-सापेक्ष नहीं होता है। व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में रहे, वह अवधिज्ञानी ही रहता है। इसी प्रकार किसी का अवधिज्ञान अल्पकालीन होता है और किसी का दीर्घकालीन। अवधिज्ञान के अन्य भी नाना भेद हैं। किसी का अवधिज्ञान बढ़ता हुआ होता है, किसी का क्रमशः घटता हुआ। किसी का अवधिज्ञान यावज्जीवन रह जाता है और किसी का अवधिज्ञान बीच में ही चला जाता है।

जिस प्रकार अवधिज्ञानी मूर्त पदार्थ को जानता है, उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी मन वाले प्राणियों के मनोभावों को जानता है। अवधिज्ञान चाहे जिस पुरुष को हो सकता है, पर मनःपर्यवज्ञान विशेष साधनाशील साधु को ही हो सकता है।

केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान का नाम है। ज्ञान का समग्र कर्मावरण दूर

११

आचार्यश्री तुलसी की जन्म-कुण्डली : एक निर्णायक प्रयोग

ज्योतिष महान् समुद्र

आचार्यश्री तुलसी की जन्म-कुण्डली तब तक ही विवाद का विषय रही, जब तक वह राजस्थानी ज्योतिषियों के हाथ में रही। लग्न-सिद्धि के लिए उनके पास इसके अतिरिक्त कोई आधार नहीं था कि वे आचार्यश्री तुलसी के घटित जीवन से अनुमान बांधें कि उनका जन्म-लग्न क्या होना चाहिए? आचार्यश्री तुलसी का जन्म पिछली रात में हुआ, यह एक अवगत तथ्य है। मातुश्री वदनांजी कहती हैं कि उस समय घरों में औरतों ने चक्कियां चलानी आरम्भ कर दी थीं। उस समय अधिक से अधिक कर्क, सिंह और कन्या—इन तीन लग्नों का सम्बन्ध बैठ सकता था। विभिन्न ज्योतिषियों ने तीनों ही लग्नों को आचार्यश्री तुलसी के जन्म-लग्न के रूप में सिद्ध किया। बात स्वाभाविक थी।

ज्योतिष सिद्धान्तों का एक महान् समुद्र है। सभी खोजी अपने-अपने मनचाहे सिद्धान्त-रत्न उससे निकाल सकते हैं।

आचार्यश्री तुलसी की जन्म-कुण्डली को ही लें। चाहे वह सिंह लग्न की हो, चाहे कन्या लग्न की, उसमें सूर्य और गुरु, ये प्रमुख ग्रह नीच राशिगत हैं ही। ग्रहों के योगायोग से भी मूल कुण्डली में कोई असाधारणता नजर नहीं आती। सम्भावना नहीं लगती कि आचार्यश्री तुलसी से

जातिस्मरण सनिमित्त भी होता है और बिना निमित्त भी होता है। अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कारों का कोई प्रतीक देखकर या बिना देखे भी यह ज्ञान होता है। इस ज्ञान के विषय में जैन धर्म की सामान्य धारणा तो यही है कि व्यक्ति अधिक से अधिक अपने अतीत के नव संज्ञी जन्मों को इस ज्ञान के द्वारा जान सकता है। आचारांग वृत्ति व कर्मग्रन्थ वृत्ति के अनुसार मनुष्य संख्य तथा असंख्य भवों को भी इस ज्ञान से जान सकता है। इस ज्ञान का सम्बन्ध अतीत की स्मृति मात्र से है। भविष्य के विषय में इसकी कोई गति नहीं है। अवधि आदि अतीन्द्रिय ज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान—इन तीनों कालों में गति रखते हैं।

केवल और मनःपर्यवज्ञान इस युग में नहीं होते, ऐसी सैद्धान्तिक मान्यता है। अवधि-ज्ञान के साधारण घटना-प्रसंग वर्तमान युग में भी हो सकते हैं और यत्र-तत्र देखे भी जाते हैं। पूर्वजन्म की स्मृति से सम्बन्धित घटनाएं वर्तमान में भी बहुलता से उपलब्ध होती हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय के परामनोविज्ञान विभाग में लगभग पांच सौ घटनाएं इस प्रकार की संगृहीत हो चुकी हैं। डॉ० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी उनकी सत्यता पर छानबीन कर रहे हैं। सम्भव है, वे जाति-स्मरण ज्ञान को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध कर वैज्ञानिक मान्यता भी दे सकें।

जाति-स्मरण सनिमित्त भी होता है और बिना निमित्त भी होता है। अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कारों का कोई प्रतीक देखकर या बिना देखे भी यह ज्ञान होता है। इस ज्ञान के विषय में जैन धर्म की सामान्य धारणा तो यही है कि व्यक्ति अधिक से अधिक अपने अतीत के नव संज्ञी जन्मों को इस ज्ञान के द्वारा जान सकता है। आचारांग वृत्ति व कर्मग्रन्थ वृत्ति के अनुसार मनुष्य संख्य तथा असंख्य भवों को भी इस ज्ञान से जान सकता है। इस ज्ञान का सम्बन्ध अतीत की स्मृति मात्र से है। भविष्य के विषय में इसकी कोई गति नहीं है। अवधि आदि अतीन्द्रिय ज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान—इन तीनों कालों में गति रखते हैं।

केवल और मनःपर्यवज्ञान इस युग में नहीं होते, ऐसी सैद्धान्तिक मान्यता है। अवधि-ज्ञान के साधारण घटना-प्रसंग वर्तमान युग में भी हो सकते हैं और यत्र-तत्र देखे भी जाते हैं। पूर्वजन्म की स्मृति से सम्बन्धित घटनाएं वर्तमान में भी बहुलता से उपलब्ध होती हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय के परामनोविज्ञान विभाग में लगभग पांच सौ घटनाएं इस प्रकार की संगृहीत हो चुकी हैं। डॉ० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी उनकी सत्यता पर छानबीन कर रहे हैं। सम्भव है, वे जाति-स्मरण ज्ञान को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध कर वैज्ञानिक मान्यता भी दे सकें।

जातिस्मरण सनिमित्त भी होता है और बिना निमित्त भी होता है। अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कारों का कोई प्रतीक देखकर या बिना देखे भी यह ज्ञान होता है। इस ज्ञान के विषय में जैन धर्म की सामान्य धारणा तो यही है कि व्यक्ति अधिक से अधिक अपने अतीत के नव संज्ञी जन्मों को इस ज्ञान के द्वारा जान सकता है। आचारांग वृत्ति व कर्मग्रन्थ वृत्ति के अनुसार मनुष्य संख्य तथा असंख्य भवों को भी इस ज्ञान से जान सकता है। इस ज्ञान का सम्बन्ध अतीत की स्मृति मात्र से है। भविष्य के विषय में इसकी कोई गति नहीं है। अवधि आदि अतीन्द्रिय ज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान—इन तीनों कालों में गति रखते हैं।

केवल और मनःपर्यवज्ञान इस युग में नहीं होते, ऐसी सैद्धान्तिक मान्यता है। अवधि-ज्ञान के साधारण घटना-प्रसंग वर्तमान युग में भी हो सकते हैं और यत्र-तत्र देखे भी जाते हैं। पूर्वजन्म की स्मृति से सम्बन्धित घटनाएं वर्तमान में भी बहुलता से उपलब्ध होती हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय के परामनोविज्ञान विभाग में लगभग पांच सौ घटनाएं इस प्रकार की संगृहीत हो चुकी हैं। डॉ० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी उनकी सत्यता पर छानबीन कर रहे हैं। सम्भव है, वे जाति-स्मरण ज्ञान को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध कर वैज्ञानिक मान्यता भी दे सकें।

११

आचार्यश्री तुलसी की जन्म-कुण्डली : एक निर्णायक प्रयोग

ज्योतिष महान् समुद्र

आचार्यश्री तुलसी की जन्म-कुण्डली तब तक ही विवाद का विषय रही, जब तक वह राजस्थानी ज्योतिषियों के हाथ में रही। लग्न-सिद्धि के लिए उनके पास इसके अतिरिक्त कोई आधार नहीं था कि वे आचार्यश्री तुलसी के घटित जीवन से अनुमान बांधें कि उनका जन्म-लग्न क्या होना चाहिए? आचार्यश्री तुलसी का जन्म पिछली रात में हुआ, यह एक अवगत तथ्य है। मातुश्री वदनांजी कहती हैं कि उस समय घरों में औरतों ने चक्कियां चलानी आरम्भ कर दी थीं। उस समय अधिक से अधिक कर्क, सिंह और कन्या—इन तीन लग्नों का सम्बन्ध बैठ सकता था। विभिन्न ज्योतिषियों ने तीनों ही लग्नों को आचार्यश्री तुलसी के जन्म-लग्न के रूप में सिद्ध किया। बात स्वाभाविक थी।

ज्योतिष सिद्धान्तों का एक महान् समुद्र है। सभी खोजी अपने-अपने मनचाहे सिद्धान्त-रत्न उससे निकाल सकते हैं।

आचार्यश्री तुलसी की जन्म-कुण्डली को ही लें। चाहे वह सिंह लग्न की हो, चाहे कन्या लग्न की, उसमें सूर्य और गुरु, ये प्रमुख ग्रह नीच राशिगत हैं ही। ग्रहों के योगायोग से भी मूल कुण्डली में कोई असाधारणता नजर नहीं आती। सम्भावना नहीं लगती कि आचार्यश्री तुलसी से

सिंह लग्न की कुण्डली
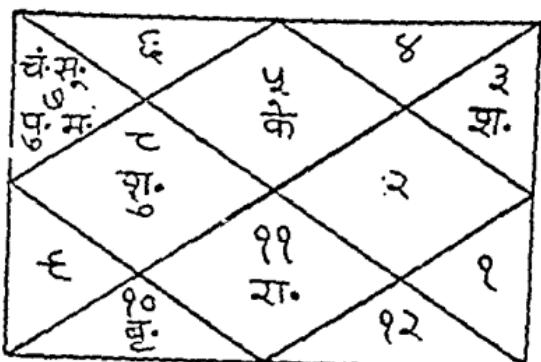
अपरिचित व्यक्ति उस कुण्डली को देखकर जातक के व्यक्तित्व की कल्पना भी कर सके। व्यक्ति और स्थिति का सामंजस्य व्यक्त होता है, नवांशकुण्डली से, जिसमें गुरु आदि अनेक ग्रह उच्च व अनेक ग्रह स्वगृही होकर सामने आते हैं। केवल मूल कुण्डली में जब आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व की झलक पाना भी कठिन-सा है, तब उस स्थिति में उससे जन्म-लग्न के निर्णय की बात तो नितान्त स्थूल ही ठहरती है।

प्रो० बी० सी० मेहता 'जैनभारती' व 'अणुव्रत' में प्रकाशित अपने लेख में लिखते हैं—"सिंह लग्न में जन्म लेने वाला व्यक्ति क्रोधी व तामसिक होता है।" पर न जाने प्रो० मेहता इस तथ्य को क्यों भूल गये कि सिंह लग्न वाला जातक, तेजस्वी, पराक्रमी व शासक भी होता है, क्योंकि सिंह लग्न का स्वामी सूर्य है और वह सब ग्रहों का राजा है।

मुझे याद है, बहुत पहले आचार्यश्री तुलसी एक बार गंगाशहर विराज रहे थे। बीकानेर महाराजा गंगासिंहजी के राज्य-ज्योतिषी वहां दर्शनार्थ आये। आचार्यश्री तुलसी के जन्म-लग्न से सम्बन्धित चर्चा चलने पर उन्होंने कहा—"आपका जन्म-लग्न सिंह है, ऐसा आपके व्यक्तित्व से, चेहरे से व पद से स्पष्ट परिलक्षित होता है।"

प्रो० मेहता का तर्क है कि सिंह लग्न की जन्म-कुण्डली में गुरु ग्रह पंचमेश होकर छठे स्थान में अपनी नीच राशि में बैठता है। पंचम स्थान

का सम्बन्ध विद्या, बुद्धि और शिष्यों से है, अतः वह इनके लिए अशुभ हो जाता है। अस्तु, ध्यान देने की बात तो यह है कि कन्या लग्न की कुण्डली में तो गुरु मीन राशि-गत होकर मूल पंचम स्थान में ही बैठ जाता है, जो विद्या, बुद्धि व शिष्यों के लिए अशुभतर कहा जा सकता है। अतः प्रो० मेहता के दोनों ही तर्क आचार्यश्री तुलसी के सिंह-लग्न में बाधक नहीं बनते।

लग्न-सिद्धि की वैज्ञानिक व प्रामाणिक पद्धति

ग्रह-स्थिति और व्यक्ति को सामने रखकर जन्म-लग्न के निर्णय का विचार ताले की सही कुंजी नहीं है। इस पद्धति को वैज्ञानिक व प्रामाणिक तभी माना जा सकता है, जब कोई ज्योतिषी इसका दावा करे कि किसी भी व्यक्ति व ग्रह-स्थिति को सामने रखकर मैं जन्म-लग्न का निर्णय कर सकता हूं। आचार्यश्री तुलसी की जन्म-कुण्डली स्वयं में अनिर्णीत है, अतः उसके विषय में कुछ भी कहा जा सकता है। पर, जिन व्यक्तियों की जन्म-कुण्डलियां प्रामाणिक रूप से उपलब्ध हैं, उन्हें सामने लाये बिना उनके अतीत जीवन को सुनकर उनका जन्म-लग्न सही-सही बताया जा सके, तभी माना जा सकता है कि जन्म-लग्न की सिद्धि की यह भी एक वैज्ञानिक व प्रामाणिक पद्धति है।

तीन महत्त्वपूर्ण आधार

आचार्यश्री तुलसी की जन्म-कुण्डली तीन विशिष्ट प्रमाणों से सिंह लग्न की सिद्ध हो चुकी है। अब तक भी इसे लोग विवादग्रस्त समझते हैं, इसका कारण यही है कि वे तीनों महत्त्वपूर्ण आधार सर्वसाधारण के सामने नहीं आए। प्रस्तुत लेख में क्रमशः वे तीनों आधार दिए जा रहे हैं।

१. आचार्यश्री तुलसी सन् १९५९ में कलकत्ता में थे। मैं बहुत दिनों से खोज में था, किसी अभ्यस्त रेखाशास्त्री के द्वारा आचार्यश्री तुलसी के जन्म-लग्न पर विचार कराया जाए। आधुनिक रेखाशास्त्र में इसकी एक व्यवस्थित पद्धति है। कलकत्ता में मुझे अनेक लोग मिले, जिन्होंने बताया, यहां पं० लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी नामक ज्योतिषी व रेखा-शास्त्री हैं, जो

के द्वारा हस्तरेखा के आधार पर ही हर किसी को जन्म कुण्डली बनाता है।

मैंने किरो जी से सम्पर्क किया। उन्हें आचार्यश्री के दर्शन कराये। उनके इच्छानुसार आचार्यश्री के हाथ का एक प्रामाणिक फोटो लिया गया। कई दिन उनके पास रखा गया। आचार्यश्री के जन्म की तिथि, सम्वत् आदि उन्हें कुछ भी नहीं बताए गए। उन्होंने अपनी रेखा-पद्धति से ही सम्वत्, तिथि आदि सहित 'सिंह-लग्न' की कुण्डली बनाकर हमारे सामने रख दी। सम्वत्, तिथि, वार आदि सही थे और लग्न भी सम्भावित दोनों लग्नों में सम्भवतः था। आगे [illegible] के लिए मुझे कोई अवकाश नहीं मिला।

कुछ दिनों बाद कलकत्ता में ही एक अन्य ज्योतिषी से, जिनका नाम मुझे याद नहीं है, सम्पर्क हुआ। 'द्वितीयं मुनये भवेत्' इस उक्ति के अनुसार मैंने आचार्यश्री तुलसी के हाथ का रेखाचित्र उनके भी सामने रख दिया और जन्म-कुण्डली बनाने के लिए कहा। उन्होंने भी 'सिंह-लग्न' की वही कुण्डली बनाई, जो पहले पं० लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने बनाई थी।

२. दिल्ली में 'अरुण संहिता' ग्रन्थ देखने व सुनने का अवसर मिला। वह पंडित हवेलीरामजी के संरक्षण में है। इसी ग्रन्थ के आधार पर पं० हवेलीरामजी ने पं० नेहरू की वर्तमानता में नन्दाजी के प्रधानमंत्री बनने की घोषणा की थी। मैंने भी अनेक कुण्डलियों के फलादेश उस ग्रंथ से सुने थे। मुझे वह ग्रंथ अच्छा लगा था। सन् १९६४ में आचार्यश्री तुलसी दिल्ली पधारे। मैंने चाहा, आचार्यश्री की कुण्डली का फलादेश उनके सम्मुख ही सुनाया जाए। पंडितजी को मैंने सिंह लग्न व कन्या लग्न दोनों से ही फलादेश सुनाने को कहा। पहले दिन सिंह लग्न की कुण्डली से फलादेश उन्होंने सुनाया। अतीत का सारा वर्णन यथार्थ लगा। भविष्य का भी समुचित लगा। अगले दिन पंडितजी निर्धारित समय से बहुत पश्चात् आये। आचार्यवर ने विलम्ब का कारण पूछा। उन्होंने कहा—"आचार्यजी ! मैं तो आपकी कन्या लग्न की कुण्डली में भटक गया। कन्या लग्न के अनेक फलादेश पढ़े, पर उस लग्न से कोई संगत फलादेश मुझे मिला ही नहीं। अस्तु, सिंह लग्न के पक्ष में यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।"

श्री धर्मचन्दजी व पूनमचंदजी सेठिया, सरदारशहर के माध्यम से दिल्ली और उत्तरप्रदेश की महत्त्वपूर्ण भृगु-संहिताओं के फलादेश भी आचार्यश्री की सिंह लग्न की कुण्डली पर ही आ रहे हैं। ये आचार्यश्री के जीवन-वृत्त के साथ बहुत संगत प्रतीत हो रहे हैं। रावण-संहिता का फलादेश भी उनके माध्यम से आया। विगत की घटनाएं बहुत ही यथार्थ थीं। वह फलादेश भी सिंह लग्न की कुण्डली पर था।

ये संहिताएं भी जन्म-लग्न के निर्णय में बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ करती हैं। प्रारम्भ की दस में दस बातें नितान्त सही होती हैं, तभी फलादेश आगे पढ़ा जाता है। दस बातों में एक बात भी जीवन से मेल न खाती हो, तो उस फलादेश को अयथार्थ मानकर छोड़ दिया जाता है। लग्न-निर्णय की इस कसौटी पर भी अनेक प्रयोगों में आचार्यवर का सिंह लग्न ही खरा उतर रहा है।

३. ज्योतिषियों का यह एक क्रम रहा है कि परिवार के लोग जब उन्हें सूचना देते हैं कि हमारे घर आज इतने बजकर इतने मिनट पर बालक या कन्या का जन्म हुआ है, वे पंचांग में उसी दिन के पृष्ठ पर व्यक्ति का परिचय व उस घड़ी-वेला का सारा ब्योरा अंकित कर देते हैं। मैंने इस दृष्टि से लाडनूं में खोज-पड़ताल की। फलतः नानूराम व्यास के घर उनके पिता पं० रामनाथजी व्यास के हाथ का लिखा आचार्यश्री तुलसी के जन्म-समय का विवरण पाया गया। उसमें भी अन्यान्य बातों के साथ 'सिंह-लग्न' ऐसा लिखित उल्लेख है। पूछताछ से पता चला, खाटेड़ परिवार की ओर से व्यासजी को सूचना नहीं हुई थी। आचार्यश्री तुलसी के ननिहाल के कोठारी-परिवार से ही व्यासजी का सम्बन्ध था, अतः उनके द्वारा ही समय आदि उन्हें बताया गया था। घर के लोग देश-दिशावर हों या इस विषय से अभिज्ञ न हों, तो ननिहाल के लोग ज्योतिषी को सूचित करें, यह अस्वाभाविक नहीं है। वह जीर्ण-शीर्ण पंचांग आज भी यथावत् देखा जा सकता है।

मैं नहीं समझता, इन तीन प्रमाणों के पश्चात् भी लग्न-निर्णय की कोई बात अवशेष रह जाती है। मेरे पास उठ-बैठ रखने वाले भी अनेक ज्योतिषी हैं, जो कहते हैं कि हम तो सदा से कन्या-लग्न की ही कुण्डली

परिनिर्वाण के २४९९ वर्ष पूरे होते हैं और २५००वां वर्ष प्रारम्भ होता है।[1] तात्पर्य, उक्त शताब्दी समारोह २५००वें वर्ष की कालावधि में मनाया गया।

गांधी जन्म-शताब्दी समारोह देश में सन् १९६८ के अक्टूबर से सन् १९६९ के अक्टूबर तक मनाया गया। गांधीजी का जन्म २ अक्टूबर, सन् १८६९ का था। तात्पर्य, सौवां वर्ष समारोह के रूप में मनाया गया।

भगवान् महावीर का परिनिर्वाण ५२९ ई० पू० कार्तिक अमावस्या का है। ईस्वी सन् १९७३ कार्तिक अमावस्या को २४९९ वर्ष पूरे होते हैं, अतः भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी का समारोह २७ अक्टूबर, १९७३, से १३ नवम्बर, १९७४ कार्तिक अमावस्या तक मनाया जाना चाहिए। २७ अक्टूबर के बदले १३ नवम्बर इसलिए लेना पड़ेगा कि कार्तिक अमावस्या तिथि उसी मास व तारीख को आती है। विक्रम सम्वत् के हिसाब से यह समय सम्वत् २०३० कार्तिक अमावस्या से सम्वत् २०३१ कार्तिक अमावस्या तक होता है। वीर-निर्माण सम्वत् २५०० कार्तिक अमावस्या से वीर-निर्माण सं० २५०१ कार्तिक अमावस्या तक का होता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी दृष्टि यह है कि भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के जिस दिन २५०० वर्ष पूरे हो जाते हैं, उस दिन से समारोह का आरम्भ हो और परिनिर्वाण का २५०१वां पूरा वर्ष समारोह के रूप में मनाया जाए। इन दोनों दृष्टियों में पूरा एक वर्ष का पहले-पीछे का अन्तर रहता है। पहली दृष्टि में समारोह का आरम्भ २७ अक्टूबर, सन् १९७३ में होता है और दूसरी दृष्टि में समारोह का आरम्भ १३ नवम्बर, सन् १९७४ में

---

1. ई० पू० ५४३ में बुद्ध-निर्वाण का प्रथम वर्ष समाप्त हुआ।
ई० पू० ५४२ में बुद्ध-निर्वाण का दूसरा वर्ष समाप्त हुआ।
इस प्रकार—
ई० पू० १ में बुद्ध-निर्वाण का ५४३वां वर्ष समाप्त हुआ।
ई० सन् १ में बुद्ध-निर्वाण का ५४४वां वर्ष समाप्त हुआ।
ई० सन् २ में बुद्ध-निर्वाण का ५४५वां वर्ष समाप्त हुआ।
ई० सन् १९५६ में बुद्ध-निर्वाण का २४९९वां वर्ष समाप्त हुआ।

होता है। विक्रम सम्वत् और वीर सम्वत् में भी बताए गए प्रकार से एक वर्ष का अन्तर स्वतः आ ही जाता है। कुल मिलाकर सारे प्रश्न का समाधान इसमें होता है कि २५००वां निर्वाण समारोह २५००वें वर्ष की सम्पन्नता तक सम्पन्न हो या २५००वें वर्ष की सम्पन्नता से आरम्भ हो।

पृथक्-पृथक् स्थानों से प्रकाशित होने वाली विज्ञप्तियों से सन् १९७४ की दीपावली कार्तिक अमावस्या से समारोह के आरम्भ होने की बात लिखी गई है। इसका तात्पर्य हुआ, परिनिर्वाण का २५०१वां वर्ष समारोह के रूप में मनाया जाए।

प्रश्न होता है, भगवान् बुद्ध व महात्मा गांधी का पृथक् वर्ष मनाया गया तो इस अग्रिम वर्ष किस आधार पर मनाते हैं? हो सकता है, यह भी कोई चालू परम्परा हो। कुछ शताब्दियां वैसे भी मनाई गई हों। अस्तु, काल-क्रम व सम्मत परम्परा की दृष्टि से यह प्रश्न चिन्तन की कसौटी पर अब भी कसा जाये व शीघ्र ही एक सर्वसम्मत तथ्य तक पहुंचाए जाने का है। आशा है दायित्वशील आचार्य, विचारक, मुनिजन, मेधावी विद्वज्जन इस प्रश्न पर अपना-अपना चिन्तन, अनुभव व मन्तव्य प्रस्तुत करेंगे, जिससे समारोह का यथार्थ सर्वसम्मत समय निर्धारित किया जा सके।

१३

भगवान् महावीर की बहुमुखी संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर के अनुगत चौदह हजार साधु तथा छत्तीस हजार साध्वियों का बृहत्तर समुदाय था। सहसा एक जिज्ञासा होती है कि इतने बड़े संघ के संगठन का क्या विधान था? वहां अनुशासन की क्या परिपाटी थी? अनन्त शक्तिधर महावीर व्यवस्था के अकेले ही संचालक थे या उन्होंने भी बहुमुखी अन्तर्व्यवस्थाओं की आवश्यकता समझी थी। कोई आगम या ग्रंथ ऐसा उपलब्ध नहीं है, जो श्रमण संघ के विधान पर ही प्रकाश डालता हो, तथापि आगमिक विभिन्न प्रसंगों में तत्सम्बन्धी रूप-रेखा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। भगवान् श्री महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर थे। कल्पसूत्र के बृहत् वर्णन से पता लगता है कि समस्त व्यवस्था 'वाचना' भेद पर आधारित थी। वहां बताया गया है कि श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम गोत्री इन्द्रभूति अनगार, गौतम गोत्री अग्निभूति अनगार, कनिष्ठ गौतम गोत्री वायुभूति अनगार, भारद्वाज गोत्री स्थविर आर्य व्यक्त आदि प्रत्येक ने पांच-पांच सौ साधुओं को 'वाचना' दी। अग्निवैश्यायन गोत्रीय आर्य सुधर्मा स्वामी ने भी पांच सौ साधुओं को 'वाचना' दी। वशिष्ट गोत्रीय स्थविर मंडितपुत्र तथा कश्यप गोत्रीय स्थविर मौर्यपुत्र ने साढ़े तीन-तीन सौ साधुओं को 'वाचना' दी। अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास ने तीन-तीन सौ साधुओं

को 'वाचना' दी। अकम्पित और अचलभ्राता की वाचना समान थी। इसी प्रकार मेतार्य और प्रभास की वाचना भी समान थी। इसलिए श्रमण भगवान् महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर थे।

व्यवस्था-संचालन तथा साधना की निर्मलता के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का दायित्व एक-एक गण में अनेक व्यक्तियों पर रहता था। जहां संघ-बद्ध साधना होती है, वहां समय-समय पर व्यवस्था से सम्बद्ध अनेक जटिल पहेलियां उपस्थित हो जाती थीं। किन्तु, उन्हें लेकर किसी भी श्रमण को सीधे तौर पर भगवान् महावीर के पास पहुंचने की अपेक्षा नहीं होती थी। सम्बद्ध व्यवस्थापक उनका मार्गदर्शन करते और वे सहज समाधान पा जाते। गणधरों के अतिरिक्त व्यवस्था का भार-निर्वहन करने वाले आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर (गणाधिप) व गणावच्छेदक कहलाते। ये पद थे और उनके कार्यों की पृथक्-पृथक् संहिताएं थीं। उन संहिताओं की परिभाषाओं से तत्कालीन व्यवस्थाओं का सम्यक् दिग्दर्शन हो जाता है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. आचार्य

सूत्र (संक्षेप) तथा अर्थ (विस्तार) के ज्ञाता, विशिष्ट लक्षण-युक्त, गण के सर्वोपरि संचालन में कुशल तथा गणतप्ति से विप्रमुक्त आचार्य होते थे।[1]

उपाध्याय

सम्यक्त्व, ज्ञान तथा दर्शन से युक्त, सूत्र, अर्थ व दोनों के ज्ञाता, ार्य-स्थानीय एवं शिक्षा-प्रदाता उपाध्याय होते थे।[2]

ुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।
ाणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिओ॥
—स्थानांग सूत्र वृत्ति, उ० ३

ंमत्तनाणदंसणजुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू।
आयरियठाण जोगो सुत्तं वाएइ उवज्झाओ।
—स्थानांग सूत्र वृत्ति, उ० ३

३. प्रवर्तक

तप, संयम आदि क्रियाओं में जो साधक जिस क्रिया के योग्य होता था, उसे उसमें प्रवृत्त करने वाले, असमाधि का निराकरण करने वाले प्रवर्तक होते थे।[1]

४. स्थविर

साधकों को संयम में स्थिर रखने वाले, साधना से विचलित होने वाले श्रमणों को पुनः स्थिर करने वाले तथा उनकी खिन्नता का निवारण करने वाले स्थविर होते थे।[2]

५. गणी

सूत्रार्थ का निर्माता, प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, अनुवर्तना में कुशल, जाति-सम्पन्न, कुल-सम्पन्न, गम्भीर, लब्धि-सम्पन्न, संग्रह और उपग्रह में निरत, प्रवचनानुरागी एवं छोटे-छोटे श्रमण-समूहों का नेतृत्व करने वाले गणी होते थे।[3]

६. गणधर

प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्न, ऋजु, तेजस्वी, साधुओं के लिए वस्त्र-पात्र आदि उपधि के संग्रह में कुशल तथा अनौचित्य के निरोध में प्रवीण

---

१. तवसंजमजोगेसु जो जोग्गो तत्थ तं पयट्टेइ।
असहुं च नियत्तेई गणतत्तिल्लो पवत्ती उ।
—स्थानांग सूत्र वृत्ति, उ० ३

२. थिरकरणा पुण थेरो पवत्तिवावारिएसु अत्थेसु।
जो जत्थ सीयइ जई संतबलो तं थिर कुणइ।
—स्थानांग सूत्र वृत्ति, उ० ३

३. सुत्तत्थे निम्माओ पियदढधम्मोऽणुवत्तणा कुसलो।
जाईकुलसपन्नो गंभीरो लद्धिमंतो य।
संगहुवग्गह निरओ कयकरणो पवयणानुरागी य।
एव विहो उ भणिओ गणसामी जिणरिदेहिं।
—स्थानांग सूत्र वृत्ति, उ० ३

गणधर (गणाधिप) कहलाते थे।[1]

७. गणावच्छेदक

गण के एक भाग को लेकर गच्छ की रक्षा के लिए उपकरणों की खोज तथा व्यवस्था में कुशल, कुछ साधुओं के साथ संघ के अग्रविहारी तथा गण-चिन्ता में निरत गणावच्छेदक होते थे। ये सूत्र, अर्थ और तदुभय-रूप आगम के भी ज्ञाता होते थे।[2]

भगवान् महावीर के नेतृत्व में उक्त सभी पदवियों का व्यवहार तत्कालीन साधु-संघ में था। गणों की व्यवस्था कितनी दृढ़ और नियमबद्ध थी, यह व्यवहार, बृहत्कल्प आदि सूत्रों से स्वयं प्रकट होता है। एक गण के साधु का अन्य गण के साधु के साथ कितने व्यवहार कल्प्य हैं, कितने अकल्प्य हैं, एक साधु कितने कारणों से दूसरे गण में जा सकता है, आदि विधि-विधान एक नियमोपेत व्यवस्था का स्पष्ट परिचय देते हैं।

यही स्थिति आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक प्रभृति पदवियों के विषय में है। पदवियों के विषय में भी भगवान् महावीर ने उपदेश-विधि नहीं बरती है, किन्तु सुदृढ़ व्यवस्था का विधान किया है। आचार्य, उपाध्याय की स्थापना किए बिना साधु को विचरना नहीं कल्पता। अमुक पदवी के उपयुक्त अमुक प्रकार का साधु ही हो सकता है। अमुक पदवी में अमुक मर्यादा, वय और ज्ञान की अनिवार्य अपेक्षा है। अमुक पदवी वाले को इतने साधुओं के साथ ही विहार व चातुर्मास आदि करना कल्पता है, आदि उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं।

ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर की संघ-व्यवस्था में अयाचित सुन्दरता न होकर संस्कारित स्वस्थता थी। आज का युग हर व्यवस्था

---

१. पियधम्मे दढधम्मे संविग्गो उज्जुओ य तेयंसी।
संगहुवग्गहकुसलो सुत्तत्थविऊ गणाहिवई।
—स्थानांग सूत्र वृत्ति, उ० ३

२. उद्धावणा पहावणा खेत्तोवहिमग्गणासु अविसादी।
सुत्तत्थ तदुभयविऊ गणावच्छो एरिसो होइ।
—स्थानांग सूत्र-वृत्ति, उ० ३, सू० १७७

को एकतन्त्र और जनतन्त्र की कसौटी पर कसता है। अच्छा हो, प्रचलित जनतन्त्र को हम बहुतन्त्र कहें। इसमें मुझे यथार्थता दीखती है। भगवान् महावीर के श्रमण-संघ की व्यवस्था एकतन्त्रात्मक थी या बहुतन्त्रात्मक थी, यह कुछ सोच लेने जैसी बात है। सही बात तो यही लगती है कि वह व्यवस्था विशुद्ध एकतन्त्रात्मक थी। तीर्थंकर, गणधर व आचार्य किसी एक की अखण्डनायकता उस व्यवस्था का प्राण थी। किन्तु उस एकतन्त्र में आवश्यक व्यवस्था में क्रमिक विघटन की आशंका बाधक नहीं थी। बहुमुखी व्यवस्था का वह एक सफल प्रयोग था।

उस एकतन्त्र में सामूहिक भावनाओं को भी उत्तम प्रश्रय मिला था। आचार्य किसे कहना चाहिए? इस पर भगवान् महावीर कहते हैं—आचार्य रोगादि से जब ग्लान हो, आयु का अन्त समीप जान पड़ता हो, तब अन्य उपाध्याय, प्रवर्तक आदि को पास बुलाये और कहे—"आर्यो! मेरा आयुष्य पूर्ण होने के बाद अमुक साधु इस पदवी के योग्य है। उसे मेरे पद पर स्थापित करना। बाद में उपाध्याय आदि उस साधु को आचार्य पदवी दें।"[1] इस प्रकार भगवान् महावीर की एकतन्त्र व्यवस्था जनतन्त्र-प्रतिष्ठा से भी सम्यग् सम्पन्न थी। भगवान् महावीर का व्यवस्था-कौशल यहां आकर और भी निखर उठता है, जब वे शिष्य को गुरु-चरणों में आत्म-समर्पण कर चलने का उपदेश करते हैं और आचार्य को शासन-समुल्लास के लिए नाना आचार-व्यवहारों से अवगत कराते हैं। विनय को मोक्ष-प्राप्ति का मूलमंत्र बताकर भगवान् महावीर कहते हैं— "जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगितों एवं आकारों को समझता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।"[2]

---

१. आयरिय उवज्झाय गिलायमाणे अण्णयरं वदेज्जा अज्जो! मएणं काल गयंसि समणंसि अयं समुक्कसियव्वे सेय समुक्कासिणारिह समुक्कसियव्वे, सेयणो अण्णे केइ समुक्कसिणारिहे समुक्कसियव्वे।

—व्यवहार, उद्देशक ४

२. ...करे गुरुण मुववाय कारए।
...पन्ने से विणिए त्ति वुच्चई।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १

आचार्य का यह कर्तव्य बताया गया कि संघ-व्यवस्था के लिए वह निम्नलिखित बातों का ध्यान रखे—

१. सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के विवादग्रस्त अर्थ का निश्चय करे अथवा सूत्र और अर्थ में चतुर्विध संघ को स्थिर करे।

२. विनय—सबके साथ नम्र व्यवहार करे।

३. गुरुपूजा—अपने से बड़े अर्थात् स्थविर साधुओं का सम्मान करे।

४. शैक्ष बहुमान—शिक्षा ग्रहण करने वाले और नव-दीक्षित साधुओं के प्रति विशेष वात्सल्य-भाव रखे।

५. दानपति श्रद्धावर्द्धन—दाता की श्रद्धा बढ़ाए।

६. बुद्धि-बल-वर्द्धन—अपने शिष्यों की आचारिक वृद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाए।[1]

इस प्रकार अहिंसात्मक संघ-व्यवस्था का प्राण शिष्य का विनय भाव व गुरु का वात्सल्य भाव ही बनता था। आज जहां भौतिक व्यवस्थाओं के शास्य व शासक भाव में हीनता व अहम् का साक्षात् होता है और परिणाम-स्वरूप नाना संघर्ष देखे जाते हैं, वहां भगवान् महावीर की बहुमुखी व्यवस्थाओं में सुख व शान्ति की अजय गंगा बहती थी। उनकी वह बहुमुखी व्यवस्था साधकों के लिए विशेष मार्गदर्शक है।

---

१. धर्म-संग्रह टीका २, श्लोक २२, पृ० ४६; प्रवचनसार १४८, गा० ६४१

निषेध ही नहीं, वाचिक और मानसिक हिंसा के भी कटु परिणाम निरूपित थे। अहिंसा के सूक्ष्म पर्यवेक्षण में तीर्थंकर महावीर सर्वप्रथम थे। सूक्ष्म व्याख्याओं के लिए जैनी अहिंसा आज भी सर्वमान्य है। महावीर की अहिंसा की मानसिकता को समझने के लिए प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

भगवान् महावीर राजगृह के उद्यान में विराजमान थे। उनके शिष्य प्रसन्नचन्द्र मुनि उद्यान-द्वार के समीप सूर्याभिमुख एक पादस्थित ध्यान में लीन खड़े थे। राजा श्रेणिक भगवद्-वन्दन के लिए आया। यथाविधि वन्दन के पश्चात् राजा ने सर्वज्ञ भगवान् महावीर से पूछा—"आर्य ! आपके तपस्वी और ध्यानी शिष्य प्रसन्नचन्द्र मुनि, जो शान्त मुद्रा में ध्यान-लीन हैं, यदि इस स्थिति में ही काल-प्राप्त हों, तो कौन से स्वर्ग को प्राप्त होंगे ?"

भगवान् —"प्रथम नरक में।"

श्रेणिक—(विस्मयपूर्वक) "हैं, क्या कहा देव ! कौन से नरक में ?"

भगवान्—"दूसरे नरक में।"

श्रेणिक—"अभी कुछ क्षणों पूर्व आपने पहले नरक का विधान किया था और अब दूसरे का कथन करते हैं। मैं निश्चित जानना चाहता हूं, पहले या दूसरे में ?"

भगवान्—"तीसरे नरक में।"

श्रेणिक हैरान था। रह-रहकर पूछता रहा। भगवान् आगे बढ़ते ही गये। सातवें नरक तक का कथन कर दिया। राजा ने भी प्रश्न समाप्त नहीं किया। यह सोचकर कि सातवें से आगे भगवान् क्या कहेंगे, पूछा, "अब काल करें तो ?"

भगवान् —"छठे नरक में।"

जनता विस्मित थी। राजा विस्मित था। सर्वज्ञ देव आज किस विनोदामान में बहते हैं। प्रश्नों की झड़ी चालू रही। नरकों के बाद भगवान् स्वर्गों का निरूपण करने लगे। करते-करते सर्वार्थ-सिद्ध तक का निरूपण कर दिया। राजा ज्यों ही अगला प्रश्न खड़ा करने के लिए समुद्यत हुआ, आकाश में दुन्दुभि बजी। राजा ने अपनी प्रश्न-परम्परा को छोड़ते

हुए पूछा—"आर्य ! यह क्या ? देव-दुन्दुभि किसलिए ?"

भगवान्—"राजन् ! प्रश्नचन्द्र मुनि ने कैवल्य-प्राप्ति की है। देवगण कैवल्य महोत्सव करते हैं।"

राजा—(अत्यन्त आनन्द-विभोर होते हुए) "यह क्या लीला थी, महाप्रभो ! कुछ क्षण पहले सातवें नरक, कुछ क्षण पश्चात् स्वार्थ-सिद्धि विमान और अब कैवल्य-प्राप्ति ?"

भगवान्—"राजन् ! दुर्मुख सेनापति ने राह चलते ही ध्यानस्थित मुनि को यह ताना कस दिया—'हे क्षत्रिय मुने ! तुझे शर्म होनी चाहिए, तुम्हारे राज्य को शत्रुओं ने घेर लिया है, जनता को लूटते हैं, खसोटते हैं, चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही है। ऐसे समय में तुम कायरता का ढोंग साधुवेश पहनकर खड़े हो।' इस अयथार्थ उक्ति से मुनि के मन में आन्दोलन खड़ा हो गया। वे स्वयं को भूलकर पर के छद्म में फंस गये। अपने मन को उन्होंने युद्ध की भूमि बना लिया। मन के ही शत्रु और मन की ही सेना। मन से ही वे शत्रुओं का संहार करने लगे। ज्यों-ज्यों परिणामों की विक्रिया बढ़ रही थी, त्यों-त्यों कर्म दलिक संचित होते जा रहे थे। उन्हीं कर्म दलिकों का परिणाम मैंने चढ़ते क्रम से बताया था। पर, अकस्मात् किसी विशेष निमित्त से मुनि संभला। धीरे-धीरे परिणामों की मलिन श्रेणी दूर हुई। आत्मानुताप के रूप में भावों की विशुद्धता बढ़ी। शत्रु-मित्र सम हो गये। परिणाम-रूप राग-द्वेष दोनों ही आत्मा से समूल नष्ट हुए और कैवल्य का द्वार खुला। राजन् ! यह है मानसिक हिंसा के उतार और चढ़ाव का चलचित्र।"

यह महावीर अहिंसा का एक दिग्दर्शन है, जो अहिंसा अपनी वास्तविकता, सूक्ष्मता और युक्तियुक्तता के लिए संसार में सर्वोपरि है।

स्याद्वाद

सर्वज्ञ श्री महावीर की द्वितीय देन स्याद्वाद थी। ऐसा कौन-सा भारतीय होगा, जिसने स्याद्वाद महासिद्धान्त का नाम न सुना हो। स्याद्वाद भारतीय दर्शनों का एक महत्त्वपूर्ण अंग और जैन-दर्शन का प्राणभूत सिद्धान्त रहा है। स्याद्वाद ने ही संसार में समन्वय को जन्म

दिया। वह ऊंट और बैल जैसे बेमेल प्राणियों में भी एकता का दर्शन कराता है। उष्ट्रत्व से दोनों प्राणी एक-दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु पशुत्व, प्राणित्व आदि अनेक अर्थों में वे एक हैं। आज के भिन्नता-प्रधान युग में स्याद्वाद-दृष्टि कितनी उपयोगी सिद्ध हो सकती है, यह प्रत्येक विचारक के मनन करने का विषय है।

स्याद्वाद में आग्रह का निषेध होता है। वहां यह 'ही' है न कहकर 'भी' है, कहा जाता है। किसी रेखा के लिए यह बड़ी 'ही' है या छोटी 'ही' है, कहना वस्तुस्थिति का परिचायक नहीं। क्योंकि जो बड़ी है, वह अपने से बड़ी रेखा के और जो छोटी है, वह अपने से छोटी रेखा के पास खिंचते ही क्रमशः छोटी और बड़ी हो जाती है। इसीलिए यही कहना सही उतरता है, रेखा बड़ी भी है, छोटी भी है। यह स्याद्वाद को परखने का एक उदाहरण मात्र है। स्याद्वाद की व्यापकता तो यह है कि वह जिस प्रकार से एक परमाणु पर घटित होता है, उसी प्रकार से सारे ब्रह्माण्ड पर लागू पड़ता है। सृष्टि का कोई भी नियम स्याद्वाद से अछूता नहीं है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

स्याद्वाद सिद्धान्त की महान् विजय तो यह है, कि वह आज के युग में जबकि बहुत-सी प्राचीन विचार-परम्पराएं अस्त हो रही हैं, विज्ञान का समर्थन पाकर एक नवीन करवट ले रहा है। अधिकांश विद्वान् परिचित हैं कि सर्वोच्च वैज्ञानिक प्रो० अलबर्ट आइन्स्टीन ने जिस 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी' का आविष्कार किया है और संसार ने जिसे इस युग का एक महान् आविष्कार माना है, वह स्याद्वाद की तरह ही अपेक्षा-प्रधान होकर चलती है।

शब्द-साम्य भी उनका सामंजस्य प्रकट करता है। 'रिलेटिविटी' का अर्थ भारतीय हिन्दी लेखकों ने एक स्वर से 'अपेक्षावाद' किया है। शब्द-व्युत्पत्ति को समझने वाले हर व्यक्ति को मानना होगा, स्याद्वाद और अपेक्षावाद दोनों शब्द एक ही अर्थवाची हैं।

स्याद्वाद के विवेचक जैसे अंगुली व रेखा के उदाहरण से गहन सिद्धान्त का परिचय देते हैं, इसी तरह आइन्स्टीन भी एक तद्रूप उदाहरण

से सापेक्षवाद का परिचय देते हैं। "थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी क्या है ?" अपनी पत्नी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, "एक आदमी को गर्म चूल्हे पर बिठा दिया जाए, तो वह थोड़े से समय को भी बहुत लम्बा समय मानने लगेगा। एक युवक को किसी युवती से बातें करने का अवसर मिले, तो वह लम्बी अवधि को भी थोड़ा-सा समय मानेगा। यही मेरी 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी' है। रेखा के उदाहरण में और उक्त उदाहरण में कितनी समानता है। वहां एक ही रेखा छोटी और बड़ी बनती है, यहां एक ही समय अधिक और थोड़ा बन जाता है। दोनों ही उदाहरणों में अपेक्षावाद की प्रधानता है। स्याद्वाद में व्यवहार नय और निश्चय नय विशेष स्थान रखते हैं और वहां वस्तु का व्यावहारिक और नैश्चयिक स्वरूप भिन्न हो जाता है। व्यावहारिक ज्ञान साधारण (छद्मस्थ) मनुष्य करता है और नैश्चयिक ज्ञान ,सर्वज्ञ-सापेक्ष होता है। रिलेटिविटी का वर्णन करते हुए प्रो० आइन्स्टीन भी यही बताते हैं—"We can only know the relative truth, the absolute truth is know only to the universal observer."—"हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जानते हैं, सम्पूर्ण सत्य को तो वही जान सकता है, जो विश्व-द्रष्टा हो।" सारांश यह होता है, स्याद्वाद दार्शनिक जगत् की तरह वैज्ञानिक जगत् का भी एक चमत्कार हो जाता है। अस्तु, अहिंसा और स्याद्वाद भगवान् महावीर की ऐसी देन हैं, जिनके लिए ससार सदा उनका ऋणी रहेगा।

१५

हिन्दी साहित्य और उसकी परिभाषाएं

साधुओं की संगोष्ठी में हिन्दी साहित्य की परिभाषाओं के विवेचन के पीछे अनेक प्रेरणाएं हैं। विगत वर्ष योग्य और योग्यतर परीक्षाओं के प्रश्न-पत्र बनाने और उत्तर-पत्रों के जांचने के कार्य ने मुझे यह मान लेने को विवश किया कि विद्यार्थी साधु हिन्दी-साहित्य की प्राथमिक भूमिका पर ही हैं। कुछ का मानस तो अनेक पुस्तकें पढ़ जाने के पश्चात् भी काव्यत्व-चेतना से अस्पृश्य-सा ही रहा है। साधु-समाज में हिन्दी साहित्य के युग का प्रारम्भ-काल है। हिन्दी और संस्कृत का द्वैत समान रूप से चलना चाहता है। तीसरी प्रेरणा थी कि इस युग में हिन्दी-साहित्य साहित्यानन्द के अतिरिक्त प्रचार का साधन भी बनाया जा रहा है। इन्हीं दृष्टिकोणों ने प्रस्तुत विषय पर विशेष चिन्तन करने के लिए मुझे प्रेरित किया है।

विभिन्न सरणियों की उत्पत्ति

'साहित्य' शब्द आजकल साधारणतया दो अर्थों में व्यवहृत होता है। शास्त्र के अर्थ में प्रचलित 'साहित्य' शब्द उत्तर-कालिक है, पर वह सर्वत्र व्यवहृत है, जैसे धार्मिक साहित्य, राजनीतिक साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य आदि। किन्तु हमें यहां वही अर्थ लेना है, जो 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्', 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' से सम्बन्धित है, जिस साहित्य की मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, हेमचन्द्र प्रभृति प्राचीन साहित्याचार्यों ने नाना विधि-विधानों से मर्यादा बांधी है। यह तो असम्भव-सा ही है कि थोड़े समय में हिन्दी साहित्य का अथ से इति तक

कहानी

कहानी घटना के आधार पर भी होती है और काल्पनिक भी। कहानी का छोटा कलेवर ही बहुधा सुन्दर माना जाता है। कहानी की भाषा सीधी होनी चाहिए और उसका अन्त ऐसा हो, जो हृदय में एक गुदगुदी दौड़ जाए।

आलोचना-साहित्य

समभाव के कारण यह तो मैं नहीं बता सकता कि 'आलोचना-साहित्य' क्या है, किन्तु यह समझते हुए कि साहित्य धरातल का परिमार्जन करने के लिए आलोचनात्मक साहित्य पढ़ने की आवश्यकता हुआ करती है, हमें इस ओर जागरूक रहना चाहिए।

हिन्दी साहित्य का महत्त्व

हिन्दी साहित्य में प्रगति कर हम अपने संघ की विविध प्रकार से सेवा कर सकते हैं। आज हिन्दी का सर्वत्र बोलबाला है। श्रावक-समाज में शिक्षा का वातावरण बन रहा है। बालिकाएं भी 'भूषण', 'प्रभाकर' व 'साहित्य-रत्न' होना चाहती हैं। ऐसी स्थिति में साधु-साध्वियों में हिन्दी का पूर्ण विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना हमारा साधारण प्रभाव भी आकर्षण-शून्य हो जाता है। दूसरी बात यह है कि अन्य लोक अपने-अपने विचारों का प्रचार करने के लिए 'रहस्यवाद', 'प्रगतिवाद' आदि प्रणालियों को अपने प्रसार का माध्यम बना चुके हैं। यदि तेरापंथी साधुजन भी उन क्षेत्रों में ख्याति-प्राप्त हों, तो अपने धार्मिक विचारों को साहित्यिक वादों का रूप दे सकते हैं। तीसरी बात है कि यदि एक भी साधु साहित्यकार के रूप में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त हो, तो वह अपने समाज तथा अपने सिद्धान्त को अनायास ही संसार के सामने ला देता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहें कि वह अपने आपको उत्कृष्ट प्रचारक प्रमाणित कर देता है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

प्रश्न—[illegible] ?

उत्तर—[illegible] आविष्कार हुआ, [illegible]

प्रश्न—जिस तरह अद्वैतवादियों ने 'मायावाद' के सहारे तथा कार्ल मार्क्सवादियों ने प्रगतिवाद के सहारे 'अद्वैतवाद' एवं 'कम्युनिज्म' को विश्व के कोने-कोने में फैलाया और फैला रहे हैं, इसी तरह मैं जानना चाहता हूं कि क्या आपने भी कोई ऐसा नवीन वाद सोचा है, जिसको साहित्यिक रूप देकर अपनी विचारधारा को जन-जन तक फैलाने में सफल हों ?

उत्तर—अद्वैतवादियों और समष्टिवादियों ने जब साहित्य-क्षेत्र में अपनी विचारधारा का प्रतिबिम्ब डालने में सफलता पायी, तब हम अपने विचारों का प्रतिबिम्ब न डाल सकें, यह तो सोचा ही नहीं जा सकता। हमारा कौन-सा विचार-तत्त्व किस प्रगतिशील साहित्य में घुल-मिल सकता है, यह गम्भीर मनन का विषय है। उदाहरण के लिए हमारी दान-विषयक मान्यता बहुत अंशों तक आज के प्रगतिवाद में खप सकती है।

प्रश्न—अतुकान्त कविता में न तो मात्रा का प्रतिबन्ध है और न तुक का ही सन्तुलन पाया जाता है, अतः हमें भी अपने दृष्टिकोण से क्या उसको कविता के नाम से पुकारना चाहिए या गद्य के नाम से ? इसके साथ में

यह भी एक प्रश्न है कि गद्य और पद्य की परिभाषा में कौन से गुण अन्तर्गत किए जा सकते हैं ?

उत्तर—अनुप्रास कविता के साथ व गद्य का विरोध नहीं है, तो भी उसकी असाधारण प्रवाहशीलता उसे गद्य से पृथक् करती है। साहित्यशास्त्र में अधिक मात्रा, गण व प्रकार की परिमिति में बँधने वाली रचना कविता है और शेष गद्य।

प्रश्न—आज का युग जीवन के सत्य की उपेक्षा देता है, साथ में यह भी बताएँ कि हम लोगों का साहित्य, जो कि प्रदेशों से प्राप्त आता है, क्या प्रगतिवाद की 'सहायक बुराइयों का नाश करने वाला व समाज को नव-जीवन प्रदान करने वाला', इस परिभाषानुसार इसमें सम्मिलित हो सकता है ?

उत्तर—आज के भिन्न-भिन्न कवि भिन्न-भिन्न वादों को महत्व देते हैं। प्रगतिवाद आज का आकर्षक वाद है, अतएव औपदेशिक साहित्य प्रगतिवादी साहित्य की कोटि में नहीं आ सकता, क्योंकि प्रगतिवाद सुधार का नहीं, क्रान्ति का प्रतीक है।

प्रश्न—ऐसी परिस्थितियों में, जैसी कि हमारे सामने हैं, हमारे द्वारा जो साहित्य तैयार किया जाता है, क्या वह ऐसा है, जिससे आपको असन्तोष हो ? और इस प्रान्त के वातावरण में क्या हम इससे अधिक उन्नत साहित्य की रचना कर सकते हैं ? यदि आपको हमारे साहित्य से असन्तोष है, तो हम अपना साहित्यिक विकास किस प्रकार करें ?

उत्तर—हम जो साहित्य-सर्जन करते हैं, वह हममें की आने वाली मांग का पूरक है, और यह ठीक ही है। उसमें असन्तोष जैसी कोई बात नहीं। इसके अलावा हमारे वातावरण को बनाने वाले हम ही हैं, उसमें परिवर्तन कर सकते हैं, अतः हमें अपने वातावरण में उन्नत साहित्य की ध्यान लगाकर अपने विकास की प्रगति के मनकोण पर स्थापित करना चाहिए।

१६

संघ में अब पहले वाली बात नहीं रही

त्याग-वैराग्य

लोग कहते हैं, तेरापंथ संघ में अब पहले वाली बातें नहीं रहीं। कहां वह त्याग, कहां वैराग्य, अब तो केवल प्रचार-ही-प्रचार रह गया है। सच ही तो है, पहले वाला त्याग और तपस्या ही अब कहां है ? वर्तमान युग में तो संघ में वे तपस्याएं हो चुकी हैं और हो रही हैं, जो पिछले युग में नहीं हुई थीं। आछ आगार नवमासी ही पहले की उत्कृष्ट तपस्या थी, पर अभी-अभी तो साध्वीश्री भूरांजी ने आछ आगार की बारहमासी तपस्या कर डाली है। कब हुई थी, पहले कभी लघुसिंह तप की चौथी परपाटी! पर अब तो वह असम्भव बात भी सम्भव हो चली है। साध्वीश्री अणचांजी ने चौथी परपाटी भी पूरी कर डाली है। कब हुआ था पहले कभी रत्नावली तप ! मुनिश्री वृद्धिचन्दजी ने वह भी सम्पन्न कर डाला। कब हुआ था पहले भद्रोत्तर तप ! मुनिश्री सुखलालजी ने जाते-जाते इससे भी लोहा ले लिया। कब हुआ था महा-भद्रोत्तर तप, जिसके साथ वृद्धा साध्वीश्री भूरांजी अभी-अभी लोहा ले रही हैं। कब चली थीं कभी इस प्रकार सन्त और सतियों में वार्षिक उपवास और आयम्बिल की बारियां ! विगत से अब तक के दो सौ वर्षों में साधु-सतियों के संघयण तो बहुत कमजोर हुए होंगे पर तपस्याएं तो अब तक दो सौ वर्षों के लेखे-जोखे में बढ़ती ही रही हैं। वर्तमान युग में ऐसी निर्जल

तपस्याएं भी हुई, जिन्हें पिछले युग में सुना भी नहीं गया था।

कैसे नहीं रहा पहले वाला त्याग-वैराग्य ? क्या अब बड़े-बड़े संथारे नहीं होते ? क्या एकान्तर व मासखमण नहीं होते ? क्या अब साधु-साध्वियां आयम्बिल, उपवास, दस पचखान नहीं करते ?

ज्ञान-ध्यान

लोग कहते हैं, साधु-साध्वियों में अब पहले वाला ज्ञान-ध्यान नहीं रहा, न अब श्रावकों को ही थोकड़ा सिखलाते हैं। यह तो सच ही है, पहले वाला ज्ञान-ध्यान कहां रहा ? पहले तो साधु-साध्वियां और ही सूत्र कण्ठस्थ करते थे, पर अब तो साध्वी फूलकंवरजी ने भगवती सूत्र कंठस्थ करने की नई ख्याति बना डाली है। पहले की तरह और अनेक सूत्र कंठस्थ करने वाले साधु-साध्वियां वर्तमान में ही हैं। पहले साधु-साध्वियां प्रतिलिपि के रूप में सूत्रों का लेखन करते, स्वाध्याय के रूप में वाचन करते और व्याख्यान आदि में उनकी व्याख्या करते। अब साधु-साध्वियां उक्त कार्य के साथ सूत्रों पर व्याख्याएं, हिन्दी अनुवाद, संस्कृत छाया और शोधपूर्ण अध्ययन भी करने लगे हैं। पहले के साधु-साध्वियों के सामने प्रमुख रूप से सूत्रों के अध्ययन का ही विषय रहा करता था। अब उनके सामने संस्कृत व्याकरण, संस्कृत साहित्य, दर्शन, न्याय और नाना उपयोगी विषय रहते हैं। पहले साधु-सतियां जितना समय सूत्रों के अध्ययन में लगाते, उतने ही समय में आज साधु-सतियां उक्त सारे विषयों का अधिकारपूर्ण अध्ययन करते हैं। पहले विरले ही साधु गद्य और पद्य में रचना करने वाले होते थे और वह भी केवल राजस्थानी में। आज तो राजस्थानी के साथ संस्कृत और हिन्दी जुड़ गई है और तीनों ही भाषाओं में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जाते हैं। एक दिन में एक सहस्र श्लोकों की रचना की नई ख्याति मुनि राकेशकुमार जी ने बनाई है।

पहले की तरह अब श्रावक-श्राविकाओं को थोकड़े कहां रटाते हैं ? अब तो रटाने के साथ-साथ उनका बोध भी हृदयंगम कराते हैं। पचास-पचास थोकड़े रट जाने वाली बहनों से अधिक तत्त्वज्ञान तेरापंथी महा-

सभा द्वारा निर्धारित परीक्षा में उत्तीर्ण एक बालिका को हृदयंगम हो जाता है। साधु-साध्वियां तन्मय होकर उस पाठ्यक्रम को पढ़ाते हैं। तभी तो सहस्रों की संख्या में भाई-बहन प्रतिवर्ष उन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते हैं।

नाम-परिवर्तन

लोग कहते हैं—और तो क्या, आजकल साधु-साध्वियां अपना नाम भी पलटने लगे हैं। दीक्षा के समय नाम पलटने की तो एक प्रथा-सी पड़ गई है और नाम भी ऐसे जो जल्दी से लोगों की जबान पर भी नहीं लगते। सच ही तो है, आजकल कहां रखे जाते हैं नोजांजी, दाखांजी, पिस्ताजी, बिदामाजी—मेवे के फेहरिस्त वाले नाम और कहां हैं वे नाम—पन्नालाल, मोतीलाल, हीरालाल, माणकलाल, रतनचन्द, जड़ावचन्द, जवाहरात के फेहरिस्त वाले नाम? आजकल तो नाम—राजमती, चन्दनबाला, यशोधरा, अशोकश्री आदि सांस्कृतिक और विनयवर्धन, कुशलवर्धन, दिनेशकुमार, विमलकुमार आदि मांगलिक और प्रेरणाप्रद होते हैं।

प्रचार की उपयोगिता

अब रही प्रचार की बात। लोग कहते हैं, आजकल तो केवल वही रहा है। ठीक ही तो है। वही है, तभी तो आज तेरापंथ साधु-संघ की राष्ट्रीय उपयोगिता प्रमाणित हो रही है। नाना उपक्रमों से सधने वाले सम्पर्क सकेतों पर सधने लगे हैं। आए दिन आने वाले साधु रजिस्ट्रेशन बिल, भिक्षा बिल, दीक्षा बिल आदि की संघीय समस्याएं सहज ही सहल हो जाती है। उनके लिए कहां करनी पड़ती है पहले-जितनी दौड़-धूप? कुछ ही वर्ष पूर्व बम्बई राज्य में बाल-दीक्षा-निरोधक प्रस्ताव आया। समर्थकों ने अपने पक्ष में तूफानी जनमत तैयार कर लिया। बम्बई राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री मोरारजी भाई के साथ हमारा साप्ताहिक वार्तालाप कुछ महीनों से चल रहा था। इसमें हमने इस विषय को भी लिया। तेरापंथ की दीक्षा विधि के संदर्भ में उनको अवगत किया। उन्होंने कहा—"आप तो तेरापंथ विधि दीक्षा को श्रेष्ठ प्रमाणित

करने जा रहे हैं, पर मेरे सामने इस प्रस्ताव पर जो हंगामा आ रहा है, वह मुख्यतः तेरापंथ को लेकर ही आ रहा है।" अन्त में एतद्विषयक आचार्यश्री तुलसी का अभिमत जब उनके सामने रखा, तो आचार्यश्री के नाम से ही उन्हें तत्काल गंभीर हो जाना पड़ा। प्रस्ताव पर विधान परिषद् में जोरों से बहस चली। अन्त में मोरारजी भाई का भाषण हुआ। समाज-भूषण श्री छोगमल चोपड़ा और मदनचन्दजी गोठी ने बताया— "हमें तो वह भाषण इतना यथार्थ लग रहा था, मानो आचार्यश्री ही बोल रहे हैं।" अन्तिम परिणाम यह रहा कि जोर-शोर से उठा हुआ तूफान शान्त होते ही दिखा।

साधु-रजिस्ट्रेशन बिल लोक-सभा में आया। साधु मात्र को सरकार द्वारा रजिस्टर्ड होकर रहना, यह एक बहुत बड़ी समस्या थी। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' तत्कालीन गृहमंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त से मिलने उनकी कोठी पर गये। वे अपनी मोटर पर बैठकर रवाना हो रहे थे। मुनि महेन्द्रकुमारजी ने कहा—"आप कोई समय निश्चित करें। मुनिश्री नगराजजी साधु-रजिस्ट्रेशन बिल के बारे में आपसे मिलेंगे।" गृहमंत्री ने कहा—"कहिए न इस बारे में उनकी क्या राय है? आप इसे आवश्यक समझते हैं या अनावश्यक?"

मुनि महेन्द्रकुमारजी ने कहा—"अनावश्यक।"

पन्तजी बोले—"अच्छा, आपकी राय तो मैंने समझ ही ली है, दुबारा आने का क्यों कष्ट करते हैं?" उसी दिन कांग्रेस संसदीय दल ने इस प्रस्ताव का समर्थन न करने का निश्चय अपनी बैठक में कर लिया।

पहले भी अनेक समस्याएं सामने आती थीं और शासन के प्रभाव से हल हो जाती थीं। आज भी ऐसा होता है, पर अन्तर इतना ही है कि आज बड़ी-से-बड़ी समस्याएं भी आसानी से हल हो जाती हैं। जबलपुर, बम्बई आदि में साधुओं के नाम गवाहों में लिखा दिये गए। सभी जानते हैं, वे कितनी जटिल समस्याएं बन गई थीं। अभी-अभी लगभग चार वर्ष पूर्व दिल्ली में आचार्य-प्रवर को किसी ने अपने मामले में गवाह बना लिया और वह भी असद् बुद्धि से। पर, सब कुछ इतना सहज निपटा कि बहुतों को तो अभी तक पता भी नहीं है कि ऐसा कुछ हुआ था।

युद्ध का रूप न ले। वह अपने प्रयोजन में बहुत कुछ सफल भी रहा है। क्यूबा, स्वेज नहर आदि के प्रश्नों पर अनेक बार तृतीय विश्वयुद्ध व अणुयुद्ध की परिस्थितियां बनीं, पर संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रयत्न उन्हें टालने में किसी सीमा तक कारगर हुए। उसके कार्य की दूसरी दिशा उसका 'यूनेस्को' विभाग है, जिसके अन्तर्गत विश्व के शैक्षणिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास की दिशा में सभी राष्ट्रों का संयुक्त उपक्रम चल रहा है। अस्तु, उन मतभेदों में भी क्रियात्मक साम्य का वह एक अनूठा संगठन है। उसकी प्रभावशीलता का अंकन तो इस बात से ही हो जाता है कि विश्व का प्रत्येक राष्ट्र उसका सदस्य बने रहने में ही गौरव मानता है।

इस प्रकार के समन्वयी संगठन की पहल तो जैन समाज से होनी चाहिए थी, क्योंकि वे अनेकता में एकता बताने वाली स्याद्वाद पद्धति के अनन्तर उपासक हैं। खैर, बीत गई, वह बात गई। भगवान् महावीर का पचीसवां शताब्दी समारोह सामने है। चारों परम्पराओं के साहचर्य का वातावरण प्रगति पर है ही। इस अवसर पर संयुक्त जैन संसद् या संयुक्त जैन संगठन जैसे किसी नाम से संयुक्त-राष्ट्र संघ के विधि-विधान पर ही किसी एक संगठन की स्थापना भारत की राजधानी दिल्ली में हो जाए, तो वह इस पचीसवें शताब्दी-समारोह की स्थायी और ऐतिहासिक उपलब्धि होगी। इस संयुक्त जैन संसद् में चारों परम्पराओं के अखिल भारतीय संस्थाओं द्वारा निर्धारित संख्या में भेजे गए प्रतिनिधि ही सदस्य होंगे।

कार्य दिशा

चारों जैन परम्पराओं में तीर्थों को लेकर, मान्यताओं को लेकर कहीं भी कोई झगड़ा पैदा न हो, ऐसी भूमिका बनाये रखना तथा समुद्भूत झगड़े की उपशान्ति का सात्विक प्रयत्न करना, संयुक्त जैन संसद् का प्रथम कार्य होगा।

उस संसद् के अन्य कार्य होंगे— जैन धर्म व जैन संस्कृति पर आयी किसी भी आपात-स्थिति का प्रतिरोध करना।

जैन धर्म के सार्वभौम तत्त्वों का समुद्र के इस पार व समुद्र के उस पार विस्तार करना।

जैन संस्कृति व जैन दर्शन की आधुनिक शोध, भाषा व शैली में प्रकाशित करवाना। जैन संस्कृति, जैन इतिहास व जैन साहित्य पर अनुसन्धान-कार्य को सहयोग देना।

महावीर जयन्ती, महावीर-निर्वाणोत्सव आदि सर्वमान्य पर्व प्रत्येक नगर व प्रत्येक गांव में प्रतिवर्ष सारे परम्पराएं सामुदायिक रूप से मना सकें, ऐसा जन-जागरण प्रस्तुत करना। अस्तु, अन्य भी सहस्र अनेक कार्य इस संयुक्त जैन संसद् के हो सकते हैं।

संसद् की एक प्रवृत्ति, एक धारा ऐसी भी हो तदनुसार चारों परम्पराओं के उच्चकोटि आचार्यों व मुनियों का समय-समय पर मिलना आयोजित किया जा सके तथा जैन संसद् के हित में उनका मार्गदर्शन व अन्य योग लिया जा सके। ऐसे मिलन सम्वत्सरी आदि सांस्कृतिक पर्वों को एकरूपता देने, जैन साधुचर्या को युगीन व प्रभावशील बनाने की दिशा में भी पर्याप्त कार्यकारी सिद्ध हो सकते हैं।

युगीन अपेक्षा

वर्तमान युग संगठन का है। किसान, मजदूर व हरिजन भी संगठित हो चले हैं। इन सबके भी अखिल भारतीय संगठन देखे जाते हैं। पर जैन समाज का कोई सर्वगत अखिल भारतीय संगठन अब तक नहीं बन पाया है। किसानों, मजदूरों व हरिजनों ने तो अपनी संगठित शक्ति से सारे देश के वातावरण को अपने पक्ष में मोड़ लिया है। समानता-मूलक समाजवाद इसी की तो देन है। ऐसे संगठन के युग में भी जैन लोग अपनी संस्कृति के संरक्षण व विकास के लिए भी अखिल भारतीय स्तर पर एक न हो पाएं, तो उनकी 'महाजन' की ख्याति कैसे और कब तक टिक पायेगी ? यह एक प्रश्न है। इस विषय में निराश न होने की बात इतनी ही है कि जैन समाज सदा से दूरदर्शी रहा है। देश-काल के अनुरूप सदैव स्वयं को उसने ढाला है। अब संगठन के युग में वह असंगठित रहेगा और उसके असद् परिणाम भोगेगा, यह सोचा नहीं जा सकता।

जैनों का अतीत भी उनकी कर्मठता एवं कार्य-कुशलता का भरा-पूरा इतिहास है। व्यावसायिक दृष्टि से देखें, तो मारवाड़ से धोती-लोटा लेकर चलने वाले बड़े-बड़े व्यावसायिक केन्द्रों पर प्रभुत्व स्थापित कर नगरसेठ और जगत्-सेठ कहलाए। राजनैतिक दृष्टि से देखें, तो भारत के बड़े-बड़े राज्यों में वे दीवान पद को सुशोभित करते रहे हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे सेवा और समर्पण में भी किसी से कम नहीं रहे हैं। भामाशाह इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। अस्तु, भगवान महावीर का यह पचीसवां शताब्दी समारोह जैन समाज के लिए एक आत्म-निरीक्षण का प्रसंग प्रस्तु करता है। अतीत की विरासत पर भविष्य को गढ़ने का उसके लिए य स्वर्णिम अवसर है। आशा है, इसी अवसर पर वह अनेक उपलब्धियां के साथ संयुक्त जैन संसद् सशक्त संगठन के नियामक केन्द्र से भ गौरवान्वित होगा।

हुआ।¹ इस प्रकार आख्यान का पढ़ने से सहज ही भान होने लगता है कि शास्त्रकारों का [illegible] असंयति दान की हेयता सिद्ध करते रहे हैं।

'निशीथ सूत्र' के पन्द्रहवें उद्देशक में कहा गया है—"जो भिक्षु अन्यतीर्थी को, गृहस्थ को अशुचि आहार का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।"²

"जो साधु अन्यतीर्थी को, गृहस्थ को वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रमार्जन का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।"³

साधु अन्यतीर्थी या गृहस्थ को किसी भी स्थिति में भोजन, पानी या वस्त्र, पात्र का दान नहीं कर सकता है और किए जाने वाले दान का अनुमोदन भी नहीं कर सकता। इस कठोर प्रतिबन्ध का एकमात्र हार्द यही हो सकता है कि असंयति दान को भगवान् महावीर ने धर्म और मोक्ष का अंग नहीं माना है। धर्म का अंग यदि उन्होंने माना होता तो साधु के लिए सर्वस्व दान की भी वे निर्विरोध आज्ञा देते। एक साधु दूसरे सतीर्थ्य साधु को अपनी उपलब्ध सामग्री से कुछ भी दान करे, इसका विरोध न शास्त्र ही करते हैं और न वर्तमान परम्पराएं ही, जब कि साधु असंयति गृहस्थ को अपनी किसी वस्तु-विशेष का दान करे, उसमें शास्त्रीय निषेध तो अन्यत्रोक्त पाठ के अनुसार होता ही है और लगभग सभी जैन परम्पराओं में भी तथाप्रकार के दान का प्रतिषेध है। गृहस्थ भी सामायिक, पोषध आदि में संयति (साधु) को दान दे सकता है और

---

1. ततेणं णंदे मणियार तेहिं सोलसहिं रोयायंकेहिं अभिभूते समाणे णन्दा-पोक्खरणीए मुच्छिअे तिरिक्ख जोणिएहिं निबद्धाउते बद्धपए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे काल मासे काल किच्चा णदाए पोक्खरणीए कुच्छि सिद्दुरत्ताए उववन्ने ॥२६॥
2. जे भिक्खू अण्णउत्थियस्सवा गारत्थियस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ, देंतं वा सातिज्जति ॥ ७५ ॥
3. जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्सवा वत्थं वा पडिग्गाहं वा कम्बलं वा पाय पुंछणं वा देइ देन्त वासातिज्जति।

एकान्त में जाकर, वह समाधिस्थ होकर शुभ अनुष्ठान में प्रवृत्त हो।"[1]

उपासकदशांग, अध्ययन ३ में वर्णन है—चुल्लणीपिया श्रावक ने पोषध-शाला में पोषध किया। एक मिथ्यादृष्टि देव ने उसे पोषधव्रत से डिगाना चाहा। देव-माया से उसने चुल्लणीपिया श्रावक को यह दिखलाया कि उसके पुत्रों में से एक-एक को उसकी आंखों के सामने लाकर मार रहा है। चुल्लणीपिया श्रावक डिगा नहीं। अन्त में उसने देखा कि मेरी माता को भी वह दुष्ट मार रहा है। माता की अनुकम्पा के लिए चुल्लणीपिया उठा और उस पुरुष को पकड़ने के लिए चला। देव चला गया और उसके हाथ में एक खम्भा आ गया, जिसे पकड़कर वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसका रोदन सुनकर उसकी माता आयी और उसे कहने लगी—'कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जिसने तुम्हारे पुत्रों को तुम्हारे सम्मुख मारा हो। यह सब किसी ने तुम्हारे लिए उपसर्ग रूप किया था। इसलिए अब तू भग्न व्रत, भग्न नियम, भग्न पोषधोपवास हो गया है। इसलिए हे पुत्र! तू अपने इस पाप-स्थान की आलोचना कर।' तब, चुल्लणीपिया श्रावक ने माता के कथन को स्वीकार कर अपने पाप-स्थानक की आलोचना की।[2]

निर्वर्तक दया का उत्कृष्ट उदाहरण नमि राजर्षि का है, जो उत्तराध्ययन सूत्र के नवें अध्ययन में बतलाया गया है—नमि राजा ने

---

१. से भिक्खू वा भिक्खूणी वा उत्तिगेणं उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरि णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बूया 'आउसंतो गाहावइ, एयंते णावाए उदयं उत्तिगेणं आसवति उवरुवरिवा णावा कज्जलावेति' एतप्पगारं मणं वा वायं वा णोपुरओ कट्टु विहरेज्जा। अप्पुसुए अवहिलेस्सेगंतिगएणं अप्पाणं विणोसेज्ज समाहीए, तओ संजयामेव णावा संतारिमे उदए आहारियं रीएज्जा।

२. नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ नीणित्ता तव अग्गओ घाएइ, एसणं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एसणं तुमेविदरिसणे दिट्ठे। तंणं तुमं इयाणि भग्ग नियमे, भग्ग पोस हे विहरसि। तंणं तुमं पुत्ता एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि ॥१४७॥
तएणं से चुलणिपिया समणोवासए अम्मगाए तहत्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ पडिसुणित्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ॥१४८॥

ड़ लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए। अशोक ने प्रचार किया, हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया-धर्म करना भी उचित है। इसमें शक नहीं कि हमारे देश में दानशालाएं, पिंजरापोल आदि बड़ी संख्या में खुले, फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि हमारे देश में प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म ही अधिक फैला।[1]

निर्वतंक धर्म श्रेष्ठ है या प्रवर्तक, यह प्रस्तुत लेख का आलोच्य विषय नहीं है। प्रश्न तो यह भी रह जाता है कि तेरापंथ को व तत्सम अन्य मान्यताओं को जो कि शुभ योग की प्रवृत्ति को निर्जरा का हेतु मानती हैं, उन्हें क्यों निर्वतंक धर्म के नाम से अभिहित किया जाए। हिंसा और अशुभ योगमूलक पाप-कार्यों से बचने के अर्थ में तो सभी धर्म निर्वतंक धर्म की कोटि में माने जा सकते हैं। प्रस्तुत निबन्ध का आलोच्य विषय तो यही है, तेरापंथ की मान्यताएं आगमानुकूल हैं या नहीं? शास्त्रीय उल्लेखों, ऐतिहासिक दृष्टिकोणों से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि महावीर की अहिंसा निवृत्ति-प्रधान रही है, न कि प्रवृत्ति-प्रधान। भगवान् महावीर का यह उद्घोष वस्तुस्थिति को और भी स्पष्ट कर देता है—जो अरिहन्त भगवान् अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, वे सब यही कहते हैं, 'यावत् प्ररूपणा करते हैं—सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव और सर्वतत्त्व की हिंसा मत करो, उन पर अनुशासन मत करो, उन्हें दास-दासी बनाकर अपने अधीन मत करो, उन्हें परिताप न दो, उन्हें कष्ट न दो, उन्हें उपद्रव मत करो। यही धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।"[2]

वर्तमान काल में भी प्रवृत्तिमूलक उपकारों में कोई भी जैन-सम्प्रदाय संवर-निर्जरात्मक धर्म होने की मान्यता नहीं रखता। तात्पर्य यह हुआ,

---

१ अहिंसा के आचार और विचार का विकास, पृ० ७-८

२. से बेमि—जे अईया जेय पडुपन्ना, जेय आगमिस्सा, अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खन्ति, एवं भासंति एवं पण्णविंति एवं परूविंति, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हन्तव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघितव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा।

में अन्य सम्प्रदायों के सम्मुख रखे जा सकते हैं कि इतर धर्मों में विश्वास रखने वाले अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का आचरण करें और अनुकम्पा व दान में प्रवृत्त हों। उनका वह आचरण धर्म है या अधर्म, मोक्ष की ओर ले जाने वाला है या संसार की ओर ?

मिथ्यादृष्टि की मोक्ष-आराधकता के विषय में निम्न प्रकरण आधार-भूत है। भगवती, शतक ८, उद्देशक १० में भगवान् महावीर गौतम स्वामी को सम्बोधन कर कहते हैं—"गौतम ! मैं यह कहता हूं, यावत् प्ररूपणा करता हूं कि चार प्रकार के पुरुष होते हैं—जैसे एक पुरुष शील-सम्पन्न (क्रिया-युक्त) होता है और श्रुत-सम्पन्न (ज्ञान-युक्त) नहीं होता, एक पुरुष शील-सम्पन्न नहीं होता और श्रुत-सम्पन्न होता है, एक पुरुष श्रुत-सम्पन्न भी होता है और शील-सम्पन्न भी और एक पुरुष न शील-सम्पन्न होता है और न श्रुत-सम्पन्न। शील करके सहित और ज्ञान करके रहित जो पाप से निवृत्त होने वाला व धर्म को नहीं जानने वाला प्रथम पुरुष है, उसे मैं देश आराधक अर्थात् मोक्ष-मार्ग का आंशिक आराधक कहता हूं। शील करके रहित और ज्ञान करके सहित जो पाप से निवृत्त नहीं होने वाला व धर्म को जानने वाला दूसरा पुरुष है, उसे मैं देश-विराधक कहता हूं। शील करके सहित और ज्ञान करके सहित जो पाप से निवृत्त होनेवाला व धर्म को जानने वाला तीसरा पुरुष है, उसे मैं सर्व आराधक कहता हूं। शील करके रहित और ज्ञान करके रहित, जो पाप से निवृत्त होने वाला व धर्म को नहीं जानने वाला चौथा पुरुष है, उसे मैं सर्व विराधक कहता हूं।"[1]

---

१. अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि जाव परूवेमि एवं खलु मए चत्तारि पुरिस पण्णत्ता। तंजहा—सील संपण्णे णामं एगे णो सुय संपण्णे, सुय संपण्णे, णामंएगे नो सील संपण्णे, एगे सील संपण्णे वि सुय संपण्णे वि, एगे णो सील संपण्णे णो सुय संपण्णे।
तत्थणं जेसे पढमे पुरिस जाए सेणं पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए अविण्णाय धम्मे एसणं गोयमा ! मए पुरिसेदेसाराहए पण्णत्ते ॥२॥
तत्थणं जे से दोच्चे पुरिस जाए सेणं पुरिसे असीलवं सुयवं अणवरए विण्णाय धम्मे एसणं गोयमा ! मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते ॥३॥
तत्थणं जे से तच्चे पुरिस जाए सेणं पुरिसे सीलवं सुयवं उवरए विण्णाय धम्मे एसणं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते ॥४॥

सुखविपाक, अध्ययन प्रथम में बतलाया गया है—सुबाहुकुमार ने अपने पिछले सुमुख गाथापति के भव में सुदत्त नामक अनगार को शुद्ध दान दिया और परिमित संसार किया। शास्त्रकार कहते हैं—उस समय उस सुमुख गाथापति ने सुदत्त अनगार को द्रव्य शुद्ध और त्रिविध और त्रिकरण शुद्ध दान दिया तथा उसने संसार परिमित करके मनुष्य का आयुष्य बांधा।

भगवती, शतक ६, उद्देशक ३१ में असोच्चा केवली के सम्बन्ध में बताया गया है—बाल तपस्वी (मिथ्यादृष्टि तपस्वी) जिसने कि कभी वीतराग धर्म सुना ही नहीं है, वह भी अपनी तपस्या से व अन्य सद्‌गुणों से सम्यक् दृष्टि प्राप्त करता है, यावत् केवली हो जाता है। जो जीव निरन्तर तपस्या करता हुआ सूर्य के सम्मुख अपनी भुजाओं को उठाकर आतापन-भूमि में आतापन लेता है, भद्रता, शान्ति और क्रोध, मान, माया, लोभ की अल्पता, मृदुता, विनीतत्व, इन्द्रिय-निग्रह—इन गुणों से किसी समय शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और शुभ लेश्याओं से विभिन्न ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और विभंग ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए साधु को विभंग नामक अज्ञान उत्पन्न होता है। उस विभंग अज्ञान से वह जीव जघन्य अंगुलि के असंख्य भाग को और उत्कृष्ट असंख्य हजार योजन तक के पदार्थों को जानता है और देखता है। वह जीवों को भी जानता है और अजीवों को भी जानता है। पाषण्डी को आरम्भ परिग्रह सहित जानता है, क्लेशमान जानता है, विशुद्धमान जानता है। वह चारित्र-प्राप्ति के पहले सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् श्रमण धर्म को पसन्द करता है और तत्पश्चात् चारित्र-प्राप्ति करके लिंग को ग्रहण करता है।"[1]

---

१. तस्सणं भन्ते ! छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवो कम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावण भूमीए, आयावेमाणस्स पगति भद्दयाए पगति उवसंतयाए पगति पयणुकोह माण मायालोभयाए, मिउमद्दव संपन्नयाए अल्लीणयाए भद्दयाए, विणीययाए, अन्नया कयावि सुभेणं परिणामेणं लेस्साहि विसुज्झमाणीहि तया वरणीज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं इहाऽपोह मग्गणगवेसणं करेमाणस्स विभंगे नामं अन्नाणे समुपज्जइ। सेणं तेणं विभंगनाणेणं समुपन्नेणं

सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १, गाथा १६ तथा २० में बताया
ा है—"वे दर्शन ही अपने-अपने दर्शन में मुक्ति का कारण बताते हैं।
कहते हैं—चाहे गृह में निवास करते हों, चाहे अरण्य में, चाहे वे प्रव्रजित
हमारे मत में आ जाने से उन्हें मोक्ष मिलता है। ऐसे लोग कर्म की
ध को नहीं जानते हुए भी दुःख से मुक्त होने को उद्यत होते हैं। परन्तु
ति-धर्म को नहीं जानने वाले असमंजस भाषी संसार-सिन्धु से पार
ं हो सकते।"[1]

यहां स्पष्ट रूप से अपने ही मत में आ जाने से कल्याण मानने वाले
ों की भर्त्सना की गई है। आगमों में ऐसे अनेक सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध
हैं, जो मिथ्यात्वी की सत्प्रवृत्ति को मोक्ष-मार्ग का निमित्त भूत
द्ध करते हैं। यदि ऐसा न हो तो मिथ्यादृष्टि से सम्यक्दृष्टि के होने
रास्ता ही रुक जाता है। बिना किसी सत्प्रवृत्ति का शुभ परिणाम
सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र उपलब्ध ही कैसे हो
ते हैं ?

तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु ने विचार-क्रान्ति के साथ
ार-क्रान्ति भी की थी। उस आचार-क्रान्ति का एक ठोस परिणाम
ंथ सम्प्रदाय में उपाश्रयों व स्थानकों का न होना है। श्री भिक्षुगणी
ाधुओं के निमित्त से बनने वाले और साधुओं की प्रेरणा से बनाये जाने
उपाश्रयों व स्थानकों का कठोरता से निराकरण किया है। उनकी
ः धारणा थी—तथाप्रकार के निर्माणों में आधा कर्म, परिग्रह आदि

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

बड़े दोषों का सेवन होता है। तेरापंथ परम्परा में वे ही स्थान साधु-साध्वियों द्वारा उपयोग में लाए जा सकते हैं, जिनका निर्माण गृहस्थ अपने प्रयोजनों से करते हैं। भोजन और पानी की तरह साधु स्थान की भी याचना करते हैं और गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर सुपात्र दान की बुद्धि से उन्हें ठहरने के लिए निवेदन करते हैं। शास्त्रकारों ने भी उद्दिष्ट स्थानों के लिए अनेकधा निषेध किया है।

निशीथ सूत्र के पांचवें उद्देशक में कहा गया है—"जो साधु अपने निमित्त से बने हुए स्थान में प्रवेश करता है व प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे मासिक प्रायश्चित्त आता है।"[1]

इस प्रकार तेरापंथ के प्रत्येक मन्तव्य के पीछे दृढ़ आगमिक आधार है।

हरिजन कॉलोनी में आ गए। पहले से कोई समय निश्चित नहीं था। फिर भी महात्मा गांधी के व्यवस्थापकों ने बड़ा ही सौजन्य का परिचय दिया। पर जब उन्हें कहा गया कि हम तो महात्मा गांधी से साक्षात्कार करने के लिए आए हैं, इस पर वे सहमे हुए बोले—"मुनिजी ! आज और इस सप्ताह तो साक्षात्कार के लिए तनिक भी संभव नहीं है। महात्माजी बहुत व्यस्त हैं। अभी-अभी पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल उनसे परामर्श करके निकले हैं। काका कालेलकर अभी उनके साथ परामर्शरत हैं। आज शाम ही महात्मा गांधी लार्ड माउण्ट बेटन से मिलने वाले हैं। देश के भाग्य का निपटारा होना है। अस्तु, इस स्थिति में आप लोग स्वयं ही सोचें कि उनसे साक्षात्कार की बात अभी-अभी कैसे संभव हो सकती है ?" मैंने कहा—"हम भी पाद-विहारी हैं। दिल्ली से प्रस्थान कर देंगे तो फिर सभव ही कब हो सकता है ?" इसी चर्चा में एक महिला गांधीजी के कमरे से निकली। उसने भी चर्चा में रस लिया और कहा—"कम से कम महात्माजी तक यह सूचना पहुंचा देती हूं कि जैन मुनि पधारे हैं।"

बस, फिर क्या था ! महिला वापस कमरे से बाहर आयी और हम लोगों को कहा—"आप महात्माजी के कमरे में आ जाइए। उन्होंने तो जैन मुनि का नाम सुनते ही हां भर दी है।" अस्तु, हम लोगों पर महात्मा गांधी का पहला प्रभाव पड़ा, जैन साधुओं के प्रति उनके दिल में कितना समादर है। खैर, हम लोग उनके कमरे में प्रविष्ट हुए। देखा, नितान्त सीधा-सादा वातावरण। कमरे में एक ओर सामान्य-सी दरी बिछी है। उस पर चर्खा व अन्य सम्बन्धित सामग्री पड़ी है। महात्मा गांधी ने ज्योंही हम लोगों को देखा, कोहनियों तक दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया। मैंने उनको जैन धर्म, तेरापंथ, आचार्यश्री तुलसी आदि के विषयों में संक्षिप्त रूप से जानकारी दी। इस पर उन्होंने कहा—"जैन धर्म के सम्बन्ध में पहले से काफी कुछ जानता हूं; क्योंकि जैन समाज से मेरा बहुत निकट का सम्बन्ध रहा है।"

मैंने उनसे कहा—"आज नहीं तो दो-चार दिनों में हम लोग आपसे अहिंसा के कुछ सूक्ष्म पहलुओं पर विचार-विनिमय करना चाहते हैं। दो-चार दिनों की बात मैं इसलिए कह रहा हूं कि उसके अनन्तर हमें

२

पं० नेहरू : चार संस्मरण

पालथी मारकर बैठना जानता हूं

सन् १९५६ की बात है। प्रधानमंत्री प० जवाहरलाल नेहरू से उनके निवासस्थान पर मेरा मिलन हुआ। मेरे साथ मेरे सहयोगी मुनि तथा कुछ अणुव्रत-प्रतिनिधि भी थे। वह मेरा उनसे प्रथम मिलन था। हम साधु-जन अपने श्वेत आसन पर थे तथा पं० नेहरू और अन्य जनों के लिए कालीन बिछा था। हम साधु-जनों की सुविधा एवं परम्परा को दृष्टिगत रखते हुए ही यह व्यवस्था स्थानीय व्यवस्थापकों ने की थी। पं० नेहरू आए, प्रणाम किया और कालीन पर बैठने लगे। तंग चूड़ीदार पाजामा उन्हें बैठने में काफी रुकावट डाल रहा था। उन्हें कष्ट पाते देख, मैंने कहा कि प्रतीत होता है, आपके लिए बिना कुर्सी की बैठक बहुत कष्टकारक रहती है। मेरा यह कहना था कि उनके मन में स्वाभिमान जागा और बालोचित स्फूर्ति से एकाएक बैठ गए, यह कहते हुए कि मैं भारत में जन्मा हूं, पालथी मारकर बैठना भी जानता हूं। उसके बाद लगभग चालीस मिनट हमारा वार्तालाप चला, पर उनका वह पालथीमार आसन नहीं हिला।

क्या दिन भर गुस्सा ही करता हूं ?

पहला सम्पर्क चालीस मिनट की बात और आदि से अन्त तक पं० नेहरू का वह मुसकराता हुआ चेहरा। मैंने उठते-उठते कहा—"मेरी यह जमी-जमाई धारणा थी कि पं० नेहरू बहुत ऊंचे मिजाज के आदमी

हैं। वातचीत से पूर्व मेरे मन में चिन्ता थी कि न जाने वे कैसे पेश आएंगे ?"

मेरी इस स्पष्टोक्ति पर वे जोर से हंसे और अपने पास खड़े अणुव्रत समिति, दिल्ली के अध्यक्ष श्री गोपीनाथ 'अमन' की वांह पकड़ते हुए वोले—"स्वामीजी ! मेरे इन दोस्तों ने मुझे वदनाम कर दिया है। मैं क्या दिन भर गुस्सा ही करता हूं ?"

विलक्षण स्मृति

पं० नेहरू वृद्ध हो चले थे, तो भी उनकी स्मृति वहुत विलक्षण थी। एक दिन मैंने उनसे कहा—"अणुव्रत-कार्यक्रमों में आपके दाएं-वाएं वैठने वाले सभी लोगों ने भाग लिया है। केवल आप ही हैं, जिन्होंने न तो अव तक अणव्रत-सभा में भाग लिया है और न अव तक इस सम्वन्ध में कुछ कहा या लिखा है।"

उन्होंने तुरन्त जवाव दिया—"मैं भाग लूंगा, पर कुछ महीनों वाद।"

सितम्वर मास की यह वात थी। उन्होंने विना अपनी डायरी निकाले अंगुलियों पर गिनाते हुए कहा—"देखिए, इस सप्ताह अमुक तारीख को अमुक देश के प्रधानमंत्री भारत आने वाले हैं, अमुक-अमुक दिनों में मैं विदेश जाने वाला हूं।" इस प्रकार उन्होंने अपने तीन महीनों का कार्यक्रम जवानी ही कह डाला। साथ-साथ यह भी फैसला कर दिया कि दिसम्वर की दस से पन्द्रह तारीख के वीच मैं अणुव्रत-सभा में भाग ले सकूंगा। उनकी इस याददाश्त को देख हम हैरान रहे।

मैंने सोचा था, तीन महीने वाद का समय उन्होंने महज औपचारिक ही दिया है। समय पर उन्हें क्या यह याद रहने वाला है कि तीन मास पूर्व मैंने किसे क्या कहा था, पर वात सर्वथा दूसरी ही निकली। उसी वार्तालाप के आधार पर उन्होंने १३ दिसम्वर, १६५६ को सर्वप्रथम अणुव्रत-सभा में भाग लिया।

सन् १९६० में चार वर्षों के अन्तर से उनके साथ वार्तालाप का पुनः प्रसंग वना। मैं समझता था, वे व्यक्तिशः तो मुझे अवश्य ही भूल गए होंगे। इसी जिज्ञासा के साथ मैंने उनसे कहा—"मिलने वालों में से वहुतों

को तो आप भूल ही जाते होंगे ?"

पं० नेहरू ने मृदु मुस्कान के साथ कहा—"आप को तो नहीं भूला हूं।"

अवधान-सभा में

विनोद जीवन का दूसरा नाम है। बाधाओं, व्यस्तताओं, दुविधाओं की चक्की में पिसता मनुष्य भी अपनी विनोदात्मकता की संजीवनी पर बहुत दिन तक स्वस्थ और शान्तिपूर्ण जीवन जी लेता है। प्रधानमंत्री पं० नेहरू ऐसे ही व्यक्तियों में थे।

राष्ट्रपति-भवन के 'अशोक कक्ष' में मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का अवधान-प्रयोग था। तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् के साथ ही प्रधानमंत्री पं० नेहरू भी सभा-भवन में पहुंचे। उनके चेहरे पर थकान-सी थी। उन्होंने आते ही कहा—"मैं तो दस मिनट ही ठहरूंगा। प्रारम्भ मात्र देखकर मुझे जाना है।"

ज्यों-ज्यों अवधान का कार्य आगे बढ़ा, उनकी दिलचस्पी बढ़ती गई। विनोद के मूड में आ गए। जब मैंने कहा—"अब अवधानकार क्रमशः चार बदलती हुई भाषाओं में भाषण करेंगे। कोई भी विषय किसी भी व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।"

सैकड़ों आदमियों की उपस्थिति थी, पर नेहरूजी ने किसी को कहने का अवसर ही नहीं दिया। तत्काल वे बोल पड़े—"विषय है—इस मौसम में पत्तियों का रंग बदल जाता है।"

अनोखे विषय के प्रस्ताव से अवधानकार और उपस्थित जन-समूह, सभी स्मित मुद्रा में आ गये और पं० नेहरू स्वयं भी। अवधानकार ने गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, संस्कृत आदि चार भाषाओं में विषय का प्रतिपादन किया। पं० नेहरू को परम सन्तोष हुआ।

प्रसंगान्तर मैंने कहा—"अवधानकार अब आशु कविता करेंगे। कोई भी व्यक्ति कोई भी विषय दे सकता है।"

कहने का विलम्ब था, पं० नेहरू ने ही पहल की। विषय भी इतना नया दिया कि सारे वातावरण में सरसता-सी आ गई। उनका विषय

था—ल्यूनिक (कृत्रिम चांद)। इसी सप्ताह रूस ने पहले-पहल कृत्रिम चांद छोड़ा था, अतः यह विषय बहुत नवीन होने के साथ-साथ सामयिक भी था। अवधानकार मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने उक्त विषय पर तत्काल संस्कृत में तीन श्लोक कहे। मैंने उनका अर्थ हिन्दी में पढ़कर बताया। सबको सन्तोष हुआ।

एक स्मृति-अवधान पं० नेहरू ने अवधानकार को और भी दिया। वह था फिन भाषा का वाक्य। वाक्य भी ऐसा कि जिसे याद रखना तो कठिन था ही, पर उसका उच्चारण कर पाना भी दूसरों के लिए बहुत कष्ट-साध्य था।

प्रधानमंत्री जब सभा में आए, क्लान्त थे, पर जाते समय पूर्ण प्रसन्न-मुद्रा में थे। थकान कहीं देखते ही नहीं बनती थी। अपने काम में ही अपने ढंग का विनोद अर्जित कर लेना उन्हें आता था और यही उनकी स्वास्थ्य की कुंजी थी।

दूसरे दिन समाचार-पत्रों में लोगों ने पढ़ा—'नेहरू अवधानकार को हैरान करने के मूड में'।

विरोधी दलों के साथ सौहार्द

वे स्वयं विनम्र तो थे, पर दूसरों के परामर्श को ध्यान से सुनना और उसे आदर देना उनकी असाधारण विशेषता थी। जब वे कांग्रेस संसदीय दल के नेता चुने ही गए थे और अपने मंत्रिमंडल का निर्माण उन्होंने किया ही था, आचार्यश्री तुलसी का परामर्श लेकर मैं उनसे मिला। एकान्त वार्तालाप में मैंने उनसे कहा—"सब को साथ लेकर चलना आपकी अपनी सहज प्रवृत्ति है, पर प्रधानमंत्री का दायित्व आ जाने से वह कसौटी पर आ गई है। आचार्य-प्रवर का सुझाव है—अपने दल के तथा अन्य दलों के विरोधी लोगों से भी आप समन्वय और सौहार्द निभा सकेंगे, तभी आप सफल माने जाएंगे।"

इस अभिप्राय को उन्होंने गंभीरता से सुना और कहा—"मुनिश्री! मैं हृदय से प्रयत्न करूंगा कि मैं ऐसा कर सकूं, सबको साथ लेकर चल सकूं।" यह सुविदित है ही कि विरोधी दलों के प्रतिनिधियों को भी राष्ट्रीय समस्याओं में साथ रखने की एक अपूर्व प्रथा शास्त्रीजी ने अपने शासन-काल में डाली। ताशकंद जाने से पूर्व भी उन्होंने विरोधी दलों के प्रतिनिधियों से परामर्श किया था।

शास्त्रीजी में आदर्श और व्यवहार का सुन्दर समन्वय था। वह उनके ऊंचे और सफल व्यक्तित्व की कुंजी थी। न उनका आदर्श अव्यवहार्य था और न उनका व्यवहार अनादर्श कोटि का था। वे एक नीति-निष्णात व्यक्ति थे। उन्हें झुकना भी आता था और प्रेम से दूसरों को झुकाना भी आता था। वे चले गये, पर समाज को बहुत कुछ देकर।

अणुव्रत के साथ सदैव उनकी आत्मीयता रही। प्रधानमंत्री बन जाने के पश्चात् भी जब मैंने उनसे कहा—"क्या हम विश्वास करें कि अणुव्रत-आन्दोलन में अब आपका सहयोग और अधिक रहेगा ?"

बलपूर्वक उन्होंने कहा—"क्यों नही ?"

सत्य-ग्रहण से लाभ अनिवार्य

वे पुस्तकों पर भूमिकाएं बहुत कम लिखा करते थे, पर जो भी लिखते, पुस्तक का मर्म समझकर लिखते और अपना स्पष्ट मन्तव्य भी उसमें देते। उसी अणुव्रत पुस्तिका 'प्रेरणा-दीप' की भूमिका में वे लिखते हैं—'प्रेरणा-दीप' को देखा। इसे पढ़कर प्रसन्नता हुई। साधारणतया यदि कोई अपनी बीती बताता है, तो उसका दूसरों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कुछ सज्जनों ने अणुव्रतों की दीक्षा ली। उनके प्रत्यक्ष अनुभव इसमें उल्लिखित हैं। वैसे तो ये सबके लिए लाभदायक हैं, परन्तु वाणिज्य में लगे हुए भाई इससे अधिक लाभ उठा सकते हैं। अंग्रेजी की एक सहज और छोटी-सी कहावत है—'ऑनेस्टी इज दी बेस्ट पॉलिसी'। कितनी सच्ची है ! इस पुस्तक में दिये गए कुछ अनुभव इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। मैंने सुना है, स्वयं नहीं जानता, सेठ जमनालालजी बजाज कहा करते थे—"मैं जब राजनैतिक जीवन में सम्मिलित हुआ और कुछ उसके लिए कष्ट उठाया और क्षति भी सही, तो मेरी प्रतिष्ठा व्यावसायिक वर्ग में अधिक बढ़ गई और [illegible] ही। स्पष्ट है कि यदि सत्य का मार्ग ग्रहण [illegible] ना अनिवार्य है। अपने को देखना और अ[illegible] और विकास का सच्चा साधन है। मुझे प्र[illegible] व्रत-आन्दोलन [illegible]।"

४

आंख-देखी, कान-सुनी बात में कुएं-कुतुब का अन्तर

दैहिक रचना से आंखों और कानों की पारस्परिक दूरी चार ही अंगुल की होगी, पर आंख-देखी और कान-सुनी बात में कभी-कभी आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है। इन्दिराजी को समझने में ऐसा ही कुछ मेरे साथ घटित हुआ। सुनकर या पढ़कर जैसा मैंने उन्हें समझा, वह तसवीर कुछ और थी और निकट से उन्हें देखा, जाना और परखा, वह तसवीर कुछ और ही बनी। दोनों तसवीरों में आकाश-पाताल जितना अन्तर न भी कहें, तो भी कुएं और कुतुब जितना अन्तर तो मानना ही होगा।

नास्तिक महिला

सुन रखा था, इन्दिराजी का धर्म, संस्कृति और आध्यात्मिकता में कोई विश्वास नहीं है। वे तो साम्यवादी व नास्तिक विचारों वाली महिला हैं। साधु-महात्माओं के प्रति उनके मन में कोई आदर नहीं है।

विगत दो वर्षों में अनेक बार उनके साथ बैठने व विचार-विनिमय करने का प्रसंग बना। मेरे विचार-विनिमय का विषय धर्म, संस्कृति व आध्यात्मिकता से परे हो भी क्या सकता था। मैंने नहीं पाया, उक्त विषयों में कभी भी उन्होंने अरुचि व्यक्त की हो। प्रत्युत धर्म, संस्कृति और आध्यात्मिकता में आस्था का और साधु-महात्माओं के प्रति श्रद्धा

का एक विशेष भाग उनकी अभिव्यक्ति और उनकी चर्चा में परिलक्षित होता था।

१५ दिसम्बर, १९७१ के वार्तालाप में जब मैंने उनसे पूछा—"इधर युद्ध अपनी पराकाष्ठा पर है व उधर अमेरिकी बेड़े ने निकट आकर एक विचित्र सनसनी पैदा कर दी है, आपको अब क्या लगता है?"

इन्दिराजी ने सहज भाव से कहा—"आपको अपने आध्यात्मिक ज्ञान से क्या लगता है, यह भी तो बताइये?"

यह प्रश्न ही उनकी आध्यात्मिक आस्था का सूचक था। महावीर और बुद्ध पर तुलनात्मक अध्ययन की पुस्तक जब उन्हें दी गई, तो उन्होंने मुखपृष्ठ पर अंकित महावीर और बुद्ध की आकर्षक प्रतिकृतियों को बहुत श्रद्धाभाव से देखा और कहा, "मैं इस पुस्तक को बहुत ध्यान से देखूंगी।" यह अभिव्यंजना भी तो उनकी आध्यात्मिक रुचि का प्रमाण थी। ऐसे अनेक प्रसंग सामने आते रहे। स्वर्गीय प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू को तो एक बार मुझे पूछ ही लेना पड़ा कि धर्म के विषय में आप क्या सोचते और मानते हैं? उन्होंने कहा—"'रिलिजियस डोग्माज' में मेरा विश्वास नहीं है। 'स्प्रिचुअलिज्म' में मेरा उतना ही विश्वास है, जितना कि आपका।" इन्दिराजी से मुझे ऐसा प्रश्न पूछने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि शब्दों में वह जितनी आस्तिकता व्यक्त करतीं, उससे अधिक तो उनकी चर्या व विश्वास स्वतः अभिव्यक्त कर रहे थे। उनके गले में रही रुद्राक्ष की माला भी तो किसी श्रद्धा व विश्वास की प्रतीक थी।

वादे पूरे नहीं करतीं

सुन रखा था, इन्दिराजी वादे बहुत करती हैं, पूरा एक भी नहीं करतीं। विगत दो वर्षों के मेरे सम्पर्क में इस धारणा का भी प्रयोगात्मक परीक्षण हो गया। प्रथम वार्ता-प्रसंग में मैंने उनसे कहा "आपने अभी तक किसी अणुव्रत-कार्यक्रम में भाग नहीं लिया है।" उत्तर मिला—"अब लूंगी।" मुझे लगा, यह भी लोग कहते हैं, सा ही कोई वायदा है। पर स्थिति दूसरी ही निकली। संसदीय चुनावों के पूर्व की घनघोर

की जब-जब भी आवश्यकता हुई, उन्होंने कहा—"देखना होगा, कब तक का क्या-क्या प्रोग्राम है।" महावीर राष्ट्रीय समिति की प्रगति के विषय में जब एक बार उनसे पूछा गया, तो मधुर हास्य के साथ उन्होंने कहा—"प्रगति की बात क्या बताऊं, मुझे तो अभी यह भी याद नहीं आ रहा है कि यह कार्य मैंने कौन से सचिव के सिपुर्द कर रखा है।" अस्तु, किसी एक बात में पं० नेहरू की अपेक्षा दुर्बल पायी जाती हैं, तो किसी-किसी बात में वे उनसे विशेष भी प्रमाणित हो रही हैं। जिन उलझन-भरी समस्याओं को पं० नेहरू सदा टालते रहे और लंबाते रहे, उन समस्याओं से इन्दिराजी ने सीधा मुकाबला किया है और उनका दो टूक फैसला भी किया है। हो सकता है, परिस्थितियों ने उनके स्मृति-कोषों को ही साहस के कोषों में रूपान्तरित कर दिया हो।

पौरुष की प्रतीक

इन्दिराजी का परिपूर्ण व्यक्तित्व उनके साहस और पौरुष में ही कट हुआ है। नारी अबला अर्थात् निर्बलता की प्रतीक एवं पुरुष पौरुष ा प्रतीक माना जाता रहा है, पर इन्दिराजी ने सब कुछ उल्टा ही माणित कर बताया है। उन्होंने शब्द-शास्त्रियों के लिए एक समस्या ड़ी कर दी है कि अब वे नारी और पुरुष की निरन्तर शब्द-गणना को या रूपान्तर कैसे और क्या दें ?

क्रव्यूह से निकलना भी जानती हैं

५

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, जिन्होंने बीज में वट देखा

"आज अणुव्रत-आन्दोलन को बहुत से लोग जानने लगे हैं व उसके समर्थक बने हैं। मैंने आन्दोलन को उसके उद्गम-काल में ही परखा है। इसमें बहुत बड़ी सम्भावनाएं मैंने देखी हैं। तभी से मैं इसमें सक्रिय रस लेता रहा हूं। आज तो यह मेरी आशा से भी अधिक फला-फूला है।" ये शब्द स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने सन् १९५९ में 'मैत्री दिवस' का उद्घाटन करते हुए एक विशाल अणुव्रत-सभा में कहे। उनके ये उद्गार इस तथ्य की अभिव्यक्ति करते हैं कि डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने आरम्भ में जिस एक बीज को देखा और सम्भावनाएं निहित थीं, उनका वह स्वप्न फला और उन्हें अपूर्व आत्म-तोष मिला।

दो विशेषताएं

यह सत्य है कि प्रत्येक बीज में वृक्ष का अस्तित्व होता है, पर अमुक बीज वृक्षाकारता को प्राप्त होगा, यह विश्वास कर लेना किसी महान् मनस्वी का ही कार्य होता है। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के उद्गारों से उनके जीवन की दो विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है—एक आत्म-विश्वासपूर्ण दूरदर्शिता और दूसरी प्रतिकूल वातावरण में भी अपने आत्म-विश्वासों के अनुकूल चल पड़ना। अणुव्रत-आन्दोलन का शैशव कांटों के बीच विरकाने

सम्मान देते और स्वयं श्रद्धानत होकर सामने बैठते। वे सभी धर्म-गुरुओं का आदर करते थे। राष्ट्रपति भवन का द्वार विभिन्न धर्म-गुरुओं के गमनागमन से सुशोभित रहता ही था।

अवधान-प्रयोग

अवधान विद्या एक अलौकिक बुद्धि-साधना है। इससे अवधानकार श्रवण मात्र से ही संस्कृत भाषा के श्लोक, लम्बी से लम्बी संख्याएं, अज्ञात भाषाओं के वाक्य आदि याद रख लेता है। कुछ वर्ष पूर्व जब मुनि महेन्द्र-कुमारजी 'प्रथम' के एक-दो अवधान-प्रयोग राजधानी में हुए और उनकी चर्चाएं समाचार-पत्रों में आयीं, तो राजेन्द्र बाबू ने ऐसा एक प्रयोग राष्ट्रपति भवन में करवाने के लिए अपनी ओर से मुझे कहलवाया। उनकी भावना थी, ऐसी आध्यात्मिक विद्याओं के प्रति प्रधानमंत्री भी आकर्षित हों। उन्होंने उस आयोजन में उन्हें तथा उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन को भी विशेष रूप से आमंत्रित किया। लगभग दो घंटे के उस कार्यक्रम में सभी लोग दत्तचित्त होकर आदि से अन्त तक बैठे। राष्ट्रपति यह देखकर फूले नहीं समा रहे थे कि हमारे देश में आज भी ऐसी आध्यात्मिक विद्याएं उपलब्ध हैं।

प्रत्युत वह क्रमश: अधिकाधिक सरस व सघन ही बनता गया। कुछ ही दिनों पश्चात् हमारे उसी चातुर्मास के अन्तर्गत उन्होंने 'अणुव्रत-अहिंसा दिवस' में भाग लिया। उसी वर्ष शीतकाल में आचार्यश्री तुलसी का पटना पदार्पण हुआ। पटना विश्वविद्यालय ने आचार्यश्री के प्रवचन का अपने प्रांगण में आयोजन किया। कुलपति की हैसियत से राज्यपाल डॉ० जाकिर हुसेन ने उनका अभिनन्दन किया तथा विश्वविद्यालयों को अणुव्रत-आन्दोलन से लाभान्वित होने की प्रेरणा दी।

राजभवन में भी उन्होंने आचार्यश्री तुलसी को आमंत्रित किया। राजभवन की ओर से अवधान-प्रयोग आयोजित करवाया। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' उस दिन के अवधानकार थे।

कुछ समय पश्चात् डॉ० जाकिर हुसेन उपराष्ट्रपति होकर दिल्ली आ गये। दिल्ली अणुव्रत का प्रधान केन्द्र था ही। समय-समय पर तत्रस्थ साधु-साध्वियों व कार्यकर्त्ताओं से विचार-विनिमय का क्रम बना ही रहता।

सन् १९६४ के शेषकाल में आचार्य-प्रवर दिल्ली पधारे। कठौतिया भवन में उपराष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसेन ने आचार्यश्री से भेंट की। अपेक्षित विचार-विनिमय किया।

सन् १९६३ में मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का एक उच्चस्तरीय अवधान-प्रयोग विदेशी लोगों में हुआ। विविध देशों के राजदूत व अन्य विदेशी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। विदेशी लोगों ने जो प्रश्न अवधान प्रस्तुत किये और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने जो उनके उत्तर दिए, उपराष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसेन ने वे सब आदि से अन्त तक ध्यानपूर्वक देखे-सुने।

एक अन्य संस्कृति में पले-पुसे और एक उच्च पद पर आसीन व्यक्ति का श्रमण साधुओं के साथ इतना घुल-मिल जाना उनकी सांस्कृतिक सहिष्णुता का परिचायक है।

७

श्री गोविन्दवल्लभ पंत : मिलन और निष्पत्तियां

प्रथम सम्पर्क

गृहमंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पंत से हमारी पहली मुलाकात केवल सात मिनटों की थी। उसमें भी दो-तीन मिनट तो बीच ही में उनकी नींद की झपकी में चले गए। अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में यथासम्भव बताया गया। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' उन्हें राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र-प्रसाद व देश के अन्य विचारकों के आन्दोलन-सम्बन्धी लेख आदि बताने लगे, तो उन्होंने झट से कह दिया—"किसी भी वस्तुस्थिति को समझकर व्यक्ति अपनी राय तो कायम कर ही सकता है। दूसरों की रायों को पढ़ना कोई जरूरी बात नहीं है।"

हम सब संदिग्ध-सी राय लेकर वहां से उठे। किसी को लगा, आन्दोलन को न उन्होंने समझा है और न समझना चाहा भी है; तो किसी को लगा, मुद्दे की बात उन्होंने थोड़े में पकड़ ली है। आगे चलकर दूसरी राय ही यथार्थता के अधिक समीप निकली।

राज-कर्मचारियों में अणुव्रत

आन्दोलन के कार्यक्रमों में उन्होंने जितना रस लिया, वह दूसरे मंत्रियों से बहुत अधिक था। व्यवस्थित रूप से राज-कर्मचारियों में नैतिक

विगत वर्षों में अनेक बार अणुव्रत-कार्यक्रमों में गृहमंत्री श्री पंत ने भाग लिया। आचार्यश्री तुलसी के साथ उनका प्रथम परिचय प्रधानमंत्री श्री नेहरू के माध्यम से हुआ, जबकि वे उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे। दूसरा सम्पर्क कानपुर में प्रमुख व्यापारी संस्था के वार्षिक अधिवेशन के उद्घाटन में हुआ। गृहमंत्री श्री पन्त अधिवेशन के उद्घाटनकर्ता थे और आचार्यश्री तुलसी प्रमुख वक्ता।

"आचार्यश्री तुलसी के प्रति उनके मन में बहुत बड़ा आदर-भाव था, मुनिश्री बुद्धमल्लजी तथा हम लोगों के साथ होने वाले आये दिन के वार्तालाप में यह प्रकट होता था। एक बार तो बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा—"आचार्यश्री तुलसी एक महीना दिल्ली में रहे, पर मैं साक्षात्कार न कर सका। आप लोगों से ही मिलकर मैं तो सन्तोष मान लेता हूं।"

अवधान विद्या के प्रति आश्चर्य

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का दिल्ली में प्रथम अवधान-प्रयोग चांदनी चौक, दरबार हॉल में हुआ। राजधानी के वातावरण में एक नया कौतूहल छा गया। पत्र-पत्रिकाओं में उन दिनों की यही एक प्रमुख चर्चा हो गई। अवधान-प्रयोग के कुछ ही दिनों बाद मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' किसी प्रयोजन विशेष से गृहमंत्री श्री पन्त की कोठी पर गए। उनके निजी सचिव श्री जानकीप्रसाद पन्त से उन्हें बातें करनी थीं। मुनि महेन्द्रकुमारजी को देखते ही जानकीप्रसादजी ने कहा—"अजी मुनिजी ! अभी दरबार हॉल में आपके अणुव्रत वाले मुनियों में से ही किसी ने अद्भुत स्मृति-चमत्कार दिखलाया था। उस समारोह में मुरारजी भाई आदि अनेक केन्द्रीय मंत्री भी सम्मिलित थे। हमारे यहां कोठी पर इस विषय की बड़ी चर्चा है। गृहमंत्री स्वयं उन्हें देखना चाहते हैं।"

मुनि महेन्द्रकुमारजी ने कहा—"आप मान सकते हैं, वह मुनिजी आपके सामने ही खड़ा है।"

जानकीप्रसादजी के आश्चर्य और उत्साह का ठिकाना ही न रहा। तत्काल वे मुनि महेन्द्रकुमारजी को पासवाले कमरे में ले गए और पंतजी से [illegible] हुए बोले—"ये रहे वे मुनिजी जिन्होंने अद्भुत स्मृति-चमत्कार

दिखलाया था।"

पंतजी बोले—"ये तो वही मुनिजी हैं, जो अकसर अपने यहां आते रहते हैं। मुनिजी, आपने मुझे तो इस स्मरण-शक्ति के विषय में कभी नहीं बतलाया। अब तो मैं ज्यों-का-त्यों प्रयोग ही देखना चाहता हूं।"

मुनि महेन्द्रकुमारजी ने कहा—"इस विषय में तो आप मुनिश्री नगराजजी से ही बात करें।"

अगले ही दिन हम लोगों की उनसे फिर बातें हुईं। उन्होंने पूछा, "अवधान विद्या कोई अलौकिक सिद्धि है या कोई अभ्यास या अन्य उपलब्धि" उन्हें बतलाया गया, "इस विद्या का आधार व्यक्ति का सहज बुद्धि-वैशिष्ट्य और प्रयत्न ही है। इसमें कोई भूत, भविष्य बतलाने वाला लोकोत्तर ज्ञान नहीं है।" पंतजी ने कहा—"बिना लोकोत्तर सिद्धि के यह कैसे हो सकता है, मैं आंखों से देखकर ही मान सकूंगा।"

अवधान-प्रयोग कहां हो, इस विषय में उन्होंने कहा—"मैं तो चाहूंगा कि मेरी कोठी पर ही यह प्रयोग हो या संसद् के मुख्य हॉल में जहां कि सभी मंत्री व संसद् सदस्य सुगमता से देख सकें। वैसे आप जहां करेंगे, मैं तो वहीं आ जाऊंगा।"

कांस्टीट्यूशन क्लब के विशाल हॉल में अवधान-प्रयोग रखा गया। आमंत्रित लोग ही प्रवेश पा सके। समय से पूर्व ही हॉल खचाखच भर गया। अनेक मंत्री व संसद् सदस्य भी स्थानाभाव से प्रवेश न पा सके। उस दिन गृहमंत्री पंतजी उद्घाटन-भाषण करने [illegible] समय पर ही पहुंच गए। गृहमंत्री इस बात के लिए ख्याति पा चुके थे कि [illegible] आयोजन में देर से पहुंचते हैं। कुछ बार तो पहुंचते ही नहीं। [illegible]

सम्भव न था। मैं चुप रहा और वे इसी रहस्यकथा में निमग्न हो गए।

सहयोगात्मक दृष्टिकोण

दीक्षा-प्रतिबन्धक बिल, साधु-रजिस्ट्रेशन बिल आदि सम्बन्धों से तेरापंथ की विधि-व्यवस्थाओं को वे रुचि से सुना करते। प्रस्तावों के सम्बन्ध में अपनी अधिकारपूर्ण राय देते थे। साधु-रजिस्ट्रेशन बिल के सम्बन्ध में उन्होंने सक्रिय होकर उसे वापस ही करा दिया था। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि तेरापंथ और अणुव्रत के विषय में उनका दृष्टिकोण बहुत ही सहयोगात्मक रहा।

अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में यथा-प्रसंग वे मुक्त रूप से बोलते थे। उसकी उपयोगिता में उनका अधिक विश्वास था। उनका कहना था—"अणुव्रत आन्दोलन चरित्र का आन्दोलन है और आज संसार को इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। अभी तक इन व्रतों का स्थान व्यक्तिगत मूल्यों के रूप में ही था, पर आचार्य तुलसी और उनके कर्मठ अनुयायियों के अथक परिश्रम का फल है कि उन्हें अब सामाजिक मूल्य मिल रहा है। ज्यों-ज्यों इन बातों का सामाजिक मूल्य बनता जायेगा, त्यों-त्यों मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता जायेगा। मैं इस आन्दोलन का स्वागत करता हूं।"

म्भव न था। मैं चुप रहा और वे इसी रहस्यकथा में निमग्न हो गए।

सहयोगात्मक दृष्टिकोण

दीक्षा-प्रतिबन्धक बिल, साधु-रजिस्ट्रेशन बिल आदि सम्बन्धों से तेरापंथ की विधि-व्यवस्थाओं को वे रुचि से सुना करते। प्रस्तावों के सम्बन्ध में अपनी अधिकारपूर्ण राय देते थे। साधु-रजिस्ट्रेशन बिल के सम्बन्ध में उन्होंने सक्रिय होकर उसे वापस ही करा दिया था। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि तेरापंथ और अणुव्रत के विषय में उनका दृष्टिकोण बहुत ही सहयोगात्मक रहा।

अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में यथा-प्रसंग वे मुक्त रूप से बोलते थे। उसकी उपयोगिता में उनका अधिक विश्वास था। उनका कहना था—"अणुव्रत आन्दोलन चरित्र का आन्दोलन है और आज संसार को इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। अभी तक इन व्रतों का स्थान व्यक्तिगत मूल्यों के रूप में ही था, पर आचार्य तुलसी और उनके कर्मठ अनुयायियों के अथक परिश्रम का फल है कि उन्हें अब सामाजिक मूल्य मिल रहा है। ज्यों-ज्यों इन बातों का सामाजिक मूल्य बनता जायेगा, त्यों-त्यों मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता जायेगा। मैं इस आन्दोलन का स्वागत करता हूं।"

सिद्धान्त और व्यवहार के समन्वेता : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

गृह-त्यागियों की भारतीय संस्कृति को देन

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के साथ हुआ एक ही वैचारिक संश्लेष जीवन का एक अमिट आलेख बन गया। सिद्धान्त और व्यवहार का जो समन्वित क्रम उनमें पाया, अवश्य कुछ असाधारण था। सन् १९५७ की बात है। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' के दीक्षा-ग्रहण के उपलक्ष में एक शुभकामना-समारोह दिल्ली के टाउन-हॉल में आयोजित हुआ था। बम्बई विश्वविद्यालय का एक स्नातक (बी० एस-सी० ऑनर्स) दीक्षित होने जा रहा है, इस आकर्षण से सभा में साहित्यकारों व पत्रकारों का भी खासा जमघट था। श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री जैनेन्द्र-कुमार, श्री गोपीनाथ 'अमन' प्रभृति अनेक साहित्य-जीवियों ने सम्भाषण किये। विषय शुभकामना का था, पर वह वर्तमान युग और दीक्षा के रूप में परिवर्तित हो गया। शुभकामना-समारोह ने एक चिन्तन-गोष्ठी का रूप ले लिया। दीक्षा के पक्ष एवं विपक्ष में अनेक तर्क सामने आये। आयोजन मेरे सान्निध्य में था, अतः अन्तिम सम्भाषण मेरा रहा। मैंने कहा—"लोग कहते हैं, साधु-समाज की देश को क्या देन है ? मैं कहता हूं, साधु-समाज की जो देन भारतीय संस्कृति को है, उसे पृथक् करके देखा जाए, तो वह संस्कृति संस्कृति ही नहीं रहेगी। भारतीय संस्कृति

के आधार स्तम्भ हैं—वेद, उपनिषद्, आगम, त्रिपिटक, महाभारत, रामायण, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ। कहना नहीं होगा, ये सब के सब श्रुति, स्मृति, निबंध, सिद्ध व सन्त कहे जाने वाले लोगों की ही देन हैं।"

विचार नया था, पर लोगों के मानस को छू गया। इसलिए ही दिन 'हिन्दुस्तान दैनिक' के सम्पादक श्री मुकुटबिहारी वर्मा ने अपने सम्पादकीय में इस के आयोजन की चर्चा करते हुए लिखा—"मुनि श्री नगराजजी का तर्क सर्वथा मौलिक एवं नवीन था। उपस्थित इन सबने अनुमोदन किया, यह तर्क अनूठा है। देश के विद्वान इस तर्क के विपक्ष में लिखने के लिए सादर आमंत्रित हैं।"

डॉ० अग्रवाल द्वारा प्रतिवाद

कुछ ही दिनों बाद २७ अक्टूबर, १९५७ को 'हिन्दुस्तान दैनिक' में प्रस्तुत विषय के प्रतिपक्ष में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का एक लेख प्रकाशित हुआ। उन्होंने गृह-त्याग की अनुपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला था। उनके प्रतिपादन का मुख्य आधार कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः—यह श्रुतिवाक्य था। उन्होंने यह भी लिखा था, वेदों और उपनिषदों के उद्गाता पत्नी और सन्तान वाले ऋषि थे, आदि।

उस लेख से विचार-जगत् में पुनः एक नया स्पन्दन आया। तर्कों से भी अधिक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के नाम का प्रभाव पड़ा। मुझे अनेक लोगों ने कहा—"देश के एक दिग्गज विद्वान् ने आपके विचार का निराकरण किया है, क्या आप पुनः अपने पक्ष के समर्थन में कुछ लिखेंगे?"

मेरा उत्तर था—"मैंने जो कहा है, वह कहीं से उधार लेकर नहीं कहा है। मैं क्यों नहीं लिखूंगा अपने पक्ष के समर्थन में?"

प्रतिवाद का प्रतिवाद

कुछ ही दिनों बाद लगभग चार कॉलम का 'भारतीय संस्कृति में ऋषि-मुनियों का योग' शीर्षक मेरा लेख 'हिन्दुस्तान दैनिक' में प्रकाशित हुआ। मेरे लेख का मूल आधार 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' श्रुति—। मैंने यह भी बताया था—"वेदों और उपनिषदों के

न कानरोजी'—यह उपहासात्मक गीत गाने लगीं। आचार्यश्री भिक्षु के एक साला लंगड़ा था, जो उनके साथ ही भोजन कर रहा था। उन्होंने उपस्थित लोगों की ओर मुंह कर कहा—"काला होना गुनाह है, तो क्या लंगड़ा होना गुनाह नहीं है ?"

जीवित हो ? नहीं !

आचार्यश्री भिक्षु एक वार रात को व्याख्यान दे रहे थे। आसोजी नामक एक श्रावक बैठा-बैठा ऊंघने लगा। आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—"आसोजी ! नींद लेते हो ?"

वह बोला—"नहीं, महाराज !"

दो-तीन वार पूछने पर नींद लेता हुआ भी यही उत्तर देता—"नहीं, महाराज !" कुछ समय पश्चात् वह फिर नींद लेने लगा। आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—"आसोजी ! जीवित हो ?"

वह बोला—"नहीं, महाराज !"

नरक तुझे और स्वर्ग मुझे

एक दिन आचार्यश्री भिक्षु को विहार में एक महाशय मिले और कहने लगे—"भिक्षुजी ! आज तो वहुत बुरा हुआ। दिन निकलते ही तुम्हारा मुंह मैंने देख लिया।"

आचार्यश्री भिक्षु ने पूछा—"मुंह देखने से क्या होता है ?"

वह वोला—"नरक मिलता है।"

आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—"फिर तेरा मुंह देखने वाले को ?"

वह बोला—"स्वर्ग मिलता है।"

आचार्यश्री भिक्षु मुसकराते हुए बोले—"तेरे कथनानुसार तो नरक तुझे और स्वर्ग मुझे, यही तो है न ?"

कुवुद्धि कौन ?

एक वार आचार्यश्री भिक्षु जब गृहस्थ अवस्था में थे, उनके किसी पड़ोसी के घर में चोरी हो गई। पास के गांव से एक अन्धे कुम्हार को

बुलाया गया। लोग कहते थे, इसके मुंह देवी बोलती है। वह चोर को अवश्य बता देगा। वह कुम्हार बड़ा धूर्त था। वह घूमता-फिरता आचार्य भिक्षु के घर आया और इधर-उधर की बातें करने लगा। बातों के सिलसिले में वह उनसे पूछने लगा—"भीखणजी ! तुम्हारे पड़ोसी के घर में चोरी हुई है, उसके बारे में तुम्हारा अनुमान क्या लगता है ?"

आचार्यश्री भिक्षु तत्क्षण समझ गए कि जो मैं कहूंगा, वह उसकी देवी बोलेगी। उन्होंने थोड़ा सोचकर कहा—"सूरदासजी ! लोग अनुमान तो यही लगाते हैं कि चोर मजना (मजना एक बकरे का नाम था) है।"

सूरदास सिर खुजलाते-खुजलाते बात पूरी कर चलता बना। रात को वह पड़ोसी के घर गया। लोग एकत्रित हो रहे थे और आचार्यश्री भिक्षु भी वहां उपस्थित थे। अन्धे कुम्हार ने कुछ देर तो देवी-पूजा के बहाने अटरम-सटरम किया। फिर जैसे कि देवी शरीर में आ गई हो, अंगड़ाई लेते हुए तथा शरीर को हिलाते हुए जोर से बोल उठा- "गिरा दे रे, गहने गिरा दे।"

पर गहने कौन गिराता ? लोगों ने हाथ जोड़कर पूछा—"महाराज ! चोर का नाम कहिये।"

नाम तो रटा हुआ था ही। सूरदास ने जोर से कहा—"चोर मजना रे मजना।"

लोग जानते थे, मजना तो बकरा है। सब हंस पड़े और बोले—"महाराज ! मजना तो बकरा है।"

सुनते ही सूरदास अवाक् रह गया। अनायास उसके मुंह से निकल पड़ा—"भीखणजी तो बड़ा कुबुद्धि है।"

आचार्यश्री भिक्षु ने आगे बढ़कर कहा—"अरे ! बोल, कुबुद्धि कौन है ? मैं हूं या तू ?"

एक मुक्का

एक दिन एक मुनि आचार्यश्री भिक्षु के पास आए और बोले—"भीखणजी ! मेरे साथ चर्चा करो।"

आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—"मेरी तो ऐसी उत्कण्ठा नहीं है।"

आगन्तुक मुनि ने कहा—"नहीं, कुछ तो करनी ही होगी।"

आचार्यश्री भिक्षु ने पूछा—"बताओ, सन्नी हो या असन्नी?"

आगन्तुक मुनि—"मैं सन्नी हूं।"

आचार्यश्री भिक्षु—"वह कैसे?"

आगन्तुक मुनि—"नहीं-नहीं, असन्नी।"

आचार्यश्री भिक्षु—"वह कैसे?"

आगन्तुक मुनि—"नहीं, भूल गया। मैं तो सन्नी, असन्नी दोनों ही नहीं हूं।"

आचार्यश्री भिक्षु—"यह भी कैसे?"

आगन्तुक मुनि अज्ञानवश झुंझला उठा और यह कहते हुए 'यह कैसे, वह कैसे' का भी कोई उत्तर होता है; उसने आचार्यश्री भिक्षु की छाती पर एक मुक्का मार दिया।

आचार्यश्री भिक्षु ने शान्ति से कहा—"एक से ही बस या और?"

घास के बदले दूध

एक बार ग्रीष्मकाल में आचार्यश्री भिक्षु विहार कर एक गांव में आये। बहुत खोज करने पर भी साधुओं को प्रासुक पानी नहीं मिला। एक बुढ़िया के घर में प्रासुक पानी का योग था। पर वह साधुओं को देना नहीं चाहती थी। आचार्यश्री भिक्षु स्वयं साधुओं को साथ लेकर वहां पधारे। नहीं देने का कारण पूछने पर बुढ़िया ने कहा—"जो जिसको जैसा खिलाता-पिलाता है, उसे अगले जन्म में वैसा ही खाने-पीने को मिलता है। यह पानी गदला है। ऐसा पानी मुझे भी अगले जन्म में पीना पड़े, तो यह मेरे से पीया नहीं जा सकेगा, इसलिए मैं तुम्हें यह पानी नहीं देती।"

आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—"तुम अपनी गाय को क्या खिलाती हो?"

बुढ़िया बोली—"घास।"

आचार्यश्री भिक्षु ने पूछा—"वह तुझे क्या देती है?"

बुढ़िया बोली—"दूध।"

पड़ेगा।"

मुझे त्रस जीव तो मानोगे ?

पाली में अन्य मतावलम्बी साधु के साथ आचार्यश्री भिक्षु की खूब डटकर चर्चा हुई। आचार्यश्री भिक्षु ने नाना यौक्तिक और आगमिक प्रमाणों से उनके पक्ष का खण्डन किया। वे निरुत्तर होकर गुस्से में आ गए और लोगों के बीच में आचार्यश्री भिक्षु के लिए कहने लगे—"मन में आता है, साले का सिर काट दूं।"

आचार्यश्री भिक्षु ने शान्तिपूर्वक कहा—"आप अपने को पंच महाव्रती साधु मानते हैं ?"

वे बोले—"मैं अपने को ही मानता हूं, तुझे थोड़े ही मानता हूं।"

आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—"मुझे साधु नहीं तो पांच इन्द्रियों का त्रस जीव तो मानोगे ?"

कितने आने सच ?

आचार्यश्री भिक्षु किशनगढ़ में पांडियों के मुहल्ले से गोचरी के लिए जाकर वापस आ रहे थे। रास्ते में अन्य समाज का साधु मिला। उसने आचार्यश्री भिक्षु की झोली पकड़ ली और लोगों को सुना-सुनाकर कहने लगा—"आप वैरागी साधु कहलाते हैं और ओसरवाले के घर से मिठाई के पात्र भरकर लाते हैं। आज मैं सब लोगों के बीच पोल खोलूंगा। जल्दी खोलो झोली, खोलो।"

आचार्यश्री भिक्षु ने आनाकानी की। वह और भी आतुर हो गया। इस झंझट में बहुत सारे लोग भी वहां इकट्ठे हो गए। वह सबके सामने जोर-जोर से कहने लगा—"देखो औसर की मिठाई से पात्र भरे हैं; इसलिए झोली खोलते नहीं।"

लोग भी आतुर हो गये। अवसर देखकर आचार्यश्री भिक्षु ने झोली खोलकर पात्र औंधे कर दिए। पात्र नितान्त खाली ही थे। आचार्यश्री भिक्षु ने लोगों से कहा—"सब देख लो, इन साधुजी का कहना कितने आने सच है ?"

१०

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

तेरापंथ के सांस्कृतिक पर्व मर्यादा-महोत्सव का दिन था। लगभग पांच-सौ साधु-साध्वियों की निरुपम धवलिमा के बीच आचार्यश्री तुलसी ऐसे प्रतीत हो रहे थे, जैसे ग्रह, नक्षत्र व तारिकाओं के परिमण्डल में चांद अपनी चांदनी बिखेर रहा हो। लगभग चालीस हजार श्रद्धा-स्निग्ध नयन इस दुर्लभ दृश्य को अपलक रूप से निहार रहे थे। वह मूक दृश्य एकाएक मुखर जयघोषों में परिणत हो गया, जबकि आचार्यश्री तुलसी को चतुर्विध संघ की ओर से 'युगप्रधान' की उपाधि से विभूषित किया गया। 'युगप्रधान' शब्द का सामाजिक अर्थ सहज व बुद्धिगम्य था। जन-समुदाय को उसका हार्द समझते समय नहीं लगा। आचार्यश्री अपने व्यक्तित्व से, अपने कर्तृत्व से युगप्रधान स्वतः बन ही चले थे। लोक-मानस उन्हें पहले ही युगप्रधान मान चुका था। आज का यह अवसर पाकर लोक-मानस की वही अनुभूति जयघोषों में मुखर हो उठी। 'युगप्रधान' शब्द का सांस्कृतिक अर्थ व ऐतिहासिक महत्त्व जब जनता के सामने आया, तो तेरापंथ का सांस्कृतिक पर्व जैन जगत् का सांस्कृतिक पर्व बन गया। सुधर्मा, जम्बू, भद्रबाहु, स्थूलिभद्र आदि युगप्रधान आचार्यों की शृंखला में एक नूतन कड़ी और जुड़ गई। इस विरल ऐतिहासिक व सांस्कृतिक आवृत्ति से वि० सं० २०२३ का यह संवत्सर धन्य हुआ। आज की स

सप्तमी तिथि धन्य हुई। राजस्थान का छोटा-सा कस्बा बीदासर धन्य
हुआ और इस महा-परिषद् में बैठी आचार्यश्री तुलसी की माता साध्वी
वदनांजी भी धन्य हुईं।

आचार्यश्री तुलसी का यह अभिनन्दन उनकी दक्षिण-यात्रा की
सम्पन्नता पर था। पर, दक्षिण की तरह अन्य तीनों दिशाएं भी जयघोषों
से प्रतिध्वनित होती हुई चिरन्तन अन्य तीन दिगन्त यात्राओं की
भी याद दिला रही थीं। परिणामतः प्रस्तुत समारोह आचार्य-प्रवर की
चतुर्दिगन्त यात्राओं की परिपूर्णता का सूचक बन रहा था।

जैन परम्परा और युगप्रधान आचार्य

जैन परम्परा में युगप्रधान शब्द गौरवपूर्ण उपाधि का सूचक रहा
। युग-निर्माता अर्थात् नया युग लाने वाले आचार्य ही इस उपाधि के
धारक हैं। 'लोक-प्रकाश' महाग्रन्थ के रचयिता उपाध्याय श्री विनय
विजय ने इन आचार्यों के तद्भव सिद्धिक व एक भवावतारी होने की
बात कही है तथा यह बताया है कि ये महासत्व पुरुष अनेक अतिशयों
के धारक होते हैं। इनकी उपस्थिति से अढाई योजन तक के दुर्भिक्ष आदि
उपद्रव नष्ट हो जाते हैं।[1] अस्तु, इस वर्णन को हम कुछ आलंकारिक भी
मान लें, तो भी इतना तो सुनिश्चित है ही कि असाधारण सत्वशील एवं
युग-स्रष्टा आचार्य ही युगप्रधान की कोटि में माने गये हैं।

भगवान् महावीर के पश्चात् होने वाले ऐसे आचार्यों का एक स्वतंत्र
वर्गीकरण भी हुआ है। वह कुछ संख्या-भेद और नाम-भेद के साथ तीन
रूपों में उपलब्ध होता है।

'विचार-श्रेणी' के वर्गीकरण में गणधर सुधर्मा से धर्मघोष तक अड़ती
युगप्रधान आचार्य बताये गये हैं। इन आचार्यों का क्रमानुगत कालक्र
भी साथ जोड़ा गया है, जो वीर-निर्वाण के पश्चात् १५९८ वर्षों तक च
जाता है। वल्लभी युगप्रधान पट्टावली में आर्य सुधर्मा से कालका

1. अनेकातिशयोपेता महासत्वा भवन्त्यमी। —सर्ग ३४, श्लो
घ्नन्ति सार्द्धद्वियोजन्मान् दुर्भिक्षादीनुपद्रवान्॥

१२

उत्तरोत्तर अर्चनीय

साध्वीप्रमुखा लाडांजी विनम्र थीं, ऋजुमना थीं, पर साथ-साथ सत्वशीला भी थीं। जीवन के आधारभूत मूल्यों से जब परिस्थितियों का टकराव होता, तब उनकी सत्वशीलता मुखर हो उठती थी। उस सत्वशीलता का अन्तिम परिचय उन्होंने वेदना व मृत्यु से समभावपूर्वक लड़कर दिया।

वे अपने हितैषी मनीषियों के परामर्श को महत्त्व देतीं और तदनुसार अपने संवर्तन में परिष्कार लातीं। यही कारण था, इतने बड़े दायित्व का निर्वाह करती हुई वे उत्तरोत्तर अर्चनीय ही बनती गईं।

जयाचार्य के साथ सरदारांजी का, मघवागणी के साथ गुलाबांजी का, डालगणी के साथ जेठांजी का व कालूगणी के साथ कानकंवरजी तथा झमकूजी का इतिहास जिस प्रकार तेरापंथ शासन में अमर हो गया है, उसी प्रकार आचार्यश्री तुलसी के साथ साध्वीश्री लाडांजी का नाम तेरापंथ शासन में सदा के लिए अमर हो गया है।

साध्वीप्रमुखा लाडांजी के दायित्व-काल में साध्वी-समाज की शिक्षा व साहित्य के क्षेत्र में जितनी प्रगति हुई है, वह सर्वथा अपूर्व है। आचार्यश्री तुलसी का सत्प्रयास और साध्वीश्री लाडांजी की सत्प्रेरणा ही एकमात्र उसका आधार बनी है। साध्वी-समाज सदा के लिए इस विषय में उनका ऋणी रहेगा।

से भी अधिक प्रिय थे। एक भी बीज उदरस्थ होने से बच तो जाए ! अस्सी वर्ष के लम्बे जीवन में शरीर उनका बहुत ही सुदृढ़ और स्वस्थ रहा। कहना चाहिए, वे सभी सामान्य नियमों के अपवाद थे। इतने पर भी यदा-कदा वायु का दर्द शरीर के किसी भाग में आता, तो उनका उपचार था—गरम ईंट की सेंक और किरासिन तेल की मालिश।

सरदारशहर और दिल्ली के तीन प्रवासों में वे हमारे सहवासी रहे। उनका साथ रहना हमारे प्रवास की अनोखी सरसता थी। उनकी सरलता और पवित्रता के अनेक संस्मरण मस्तिष्क में अजर-अमर बन गए।

गोचरी के शौकीन

गोचरी करने के वे शौकीन थे। दूसरे का लाया सरस आहार भी उनके लिए नीरस था और अपना लाया नीरस भी सरस। दिल्ली जैसे नगर में जहां वाहनों की भीड़, अनेक-मंजिले मकान, उनका गोचरी करना हमारे लिए प्रश्न बन गया। लोग कहने लगे—सात-सात साधुओं में क्या गोचरी के समर्थ यही है ? मैंने चाहा, वे बैठ जाएं, गोचरी न करें। बहुत समझाने से बैठ गए, पर खाना-पीना बन्द, मन उदास। आखिर वह छूट उन्हें देनी ही पड़ी। फिर भी वही बात दुहराते, मैं लोगों से कह देता; आप लोग इन्हें समझा दें, मैं आभार मानूंगा। लोग इन्हें समझाने लगे, वे लोगों को समझाने लगे, "तुम लोग मेरे अन्तराय क्यों देते हो, गोचरी करने की।" मेरी बला टली, घंटों की बहस वे परस्पर ही कर लेते।

गिरने की कला

गोचरी करते रास्ते में बहुत बार गिर जाते। उनको कई बार खून आया, गहरी चोटें आयीं; फिर भी तारीफ यह कि पात्रियां उन्होंने कभी नहीं फोड़ीं। मैंने उनसे पूछा—"क्या आप जान-बूझकर गिरते हैं, जो पात्रियां कभी नहीं टूटतीं ?" उन्होंने कहा—"मोटा पुरुषां ! जाण-बूझकर तो न पड़ूं, पण झोली ने ऊं छाती पर लेनै पड़ूं, पात्रा किकर फूटै।" अर्थात् मैं जान-बूझकर तो नहीं पड़ता, पर

लेकर चलता हूँ, तब चाहिए? हास्य-मुद्रा में मैंने कहा, "आपको पहले भी तस्वीर तो नहीं बनती थी। आज और बच्चों को भी यह सिखला दें, तो क्या हर्ज है?"

विनोदी स्वभाव

स्वभाव से वे सदा विनोदी थे। कभी-कभी विनोद का प्रत्युत्तर भी उनका तत्काल का होता। एक दिन आहार के समय मुनि मानमलजी ने एक पदार्थ लेने के लिए उनसे निवेदन किया—"क्या आप भी यह खायेंगे? आपने तो अपने अस्सी वर्षों में बहुत खाया-पीया है। इसे तो हम बच्चों के लिए छोड़ दें।"

मुनिश्री छोगमलजी ने तत्काल हंसा-हंसाता उत्तर दिया—"अरे डाक्टर तो कहते भी चाहिए अभी, अभी बहुत चलना चलाएँगे।" अर्थात् बच्चे तो फिर भी खाते ही रहेंगे, अब मैं कितने दिनों का हूँ। उनकी इस अनोखी युक्ति पर हम सब विस्मित रहे। मैंने कहा—"कैसा कलियुग का नियम! अब तक तो बूढ़े कहते थे बच्चों खाओ-पीओ, हमने तो बहुत खाया-पिया है। अब बूढ़े कहने लगे, हमें ही खिलाओ-पिलाओ, बच्चों की तो खाने-पीने की जिन्दगी अभी बहुत बाकी है।"

बच्चों के आजकल के नाम उन्हें याद नहीं रहते थे, पर अपने व्यवहार के लिए कोई अच्छा नाम बड़ी खूबी से वे बना लेते थे। वे गिरजानन्दजी को 'गदजा', विनयवर्द्धनजी को 'विना', दिनेशकुमारजी को 'रमेशकुमार' तथा महेन्द्रकुमारजी को 'मिन्दरकुमार' कहते थे।

अपने अन्तिम दिल्ली-प्रवास में वे लगभग अस्सी वर्ष के थे। सुविख्यात रेखाशास्त्री श्री प्रतापसिंह चौहान से उन्होंने पूछा—"मेरी उम्र कितनी है?" उन्होंने बताया—"अब या तो आप केवल दो वर्ष जीएंगे या फिर पूरे सौ वर्ष जीएंगे।"

दस वर्ष की महोत्सव पर उन्होंने मुझे कहा था, "दो वर्ष तो अब पूरे होने वाले ही हैं।" मैंने कहा, "अच्छा ही है। आप सौ वर्ष जीएं।"

कल्पनाएं कल्पनाएं रह गईं। होता वही है, जो विधि को स्वीकार है। मुनिश्री छोगमलजी सदा के लिए चले गए और अपनी अशेष

१४

शासन-सेवा की चाह

सुदीर्घ यात्रा के सम पहलू

पन्नालालजी सरावगी बयालीस वर्ष की अल्पायु में काल-धर्म को प्राप्त हो गए। काल-धर्म सबका जाना-बूझा है और वही सबसे अजाना है। मनुष्य जानता है, काल आएगा, पर वह नहीं जानता वह कब आयेगा। उसका आकस्मिक आगमन ही राग-सम्बद्ध लोगों के दुःख का कारण बनता है। वह आकस्मिकता यदि अस्वाभाविकता का बाना और पहन लेती है, तब लोग अनुभव करते हैं—वज्रपात हो गया। स्थिर-धी और मोह-मुक्त तपस्वियों के लिए जीवन और मरण अपने लक्ष्य की सुदीर्घ यात्रा के सम पहलू हैं—हर्ष और विषाद स्वयं बन्धन हैं।

पन्नालालजी सरावगी तेरापंथ के धर्मनिष्ठ परिवार में जन्मे, वहीं उनके धार्मिक संस्कारों का पोषण हुआ। विशेष बात यह है कि अभ्युदय की नाना दिशाओं में बढ़ते रहकर भी अपने धार्मिक संस्कारों को उन्होंने यत्किंचित् भी म्लान नहीं होने दिया; प्रत्युत वे जैसे-जैसे विकास पाते गए, तेरापंथ और जैन धर्म-संघ को भी उतनी ही महान् सेवाएं देते गए।

उच्चाकांक्षी व्यक्ति

वे उच्चाकांक्षी व्यक्ति थे। उनकी आकांक्षाएं जितनी उच्च थीं,
[illegible]

राजनीति और धर्म—उनके अपने तीन प्रमुख क्षेत्र थे और वे तीनों ही में आशातीत प्रभाव अर्जित कर चुके थे।

मुझे निकट से समझने का अवसर पहले-पहल अपने दिल्ली-प्रवास में मिला। नाना हेतुओं से नाना बार उनका दिल्ली आगमन होता। अपने व्यस्त कार्यक्रमों में भी समय बचाकर वे दर्शन करते। बहुधा साहु शान्ति-प्रसादजी प्रभृति अपने परिचितों को भी साथ लाते। उनके आने का उपयोग हम भी अणुव्रतों के सम्बन्ध से व अन्य शासन-हित के सम्बन्ध से करते। मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम' पहले से ही एक-दो कार्य उनके लिए सोचकर रखते। शासन-सम्बन्धी काम को वे कभी भार नहीं मानते, पूरी दिलचस्पी से उसे करते। उनके काम करने की शैली भी अन्य कार्यकर्ताओं की तरह लचीली और लम्बी नहीं होती थी। वे बहुत शीघ्र अपना उत्तर ले आते—हां या ना। शासन-सम्बन्धी कार्यों के प्रसंग में ही उन्होंने मुझे एक बार कहा—"सम्भव है, मैं शीघ्र ही संसद में आ जाऊं, तब मेर दिल्ली ही रहना होगा। शासन की मनचाही सेवा कर सकूंगा।"

अब वे संसद् में आ गए थे। दिल्ली भी उनका रहना होने लगा थ पर वे शासन-सेवा की चाह मन में लेकर ही चले गए।

●●

मुनि नगराज

जन्म : वि० सं० १९७४, द्वितीय भाद्र शुक्ला ८, सरदारशहर (राजस्थान)

दीक्षा : वि०सं० १९९१, माघ शुक्ला ५, सुधरी (राजस्थान)

सम्मानित : अणुव्रत-परामर्शक (सन् १९६२); कानपुर विश्वविद्यालय द्वारा ऑनररी डी० लिट्० (सन् १९६६)

प्रमुख कृतियां

यथार्थ के परिपार्श्व में
आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
अहिंसा विवेक
अहिंसा पर्यवेक्षण
अणुव्रत जीवन दर्शन
जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
अहिंसा के अंचल में
नैतिक विज्ञान
महावीर और बुद्ध
अणुव्रत विचार
अणुव्रत आन्दोलन
अणुव्रत आइडियोलोजी
अणु से पूर्ण की ओर
नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया
तेरापंथ दिग्दर्शन
अणुव्रत दिग्दर्शन

आदि-आदि